आधुनिक
भारत
के
निर्माता

स्वामी दयानन्द सरस्वती

धनपति पाण्डेय

[illegible]
S. C. GUPTA, MUMBAI
[illegible]
Cell Phone : 91-9820587609
Fixed Lines : 022-26149353/24310944
Email : PRGSATISH@YAHOO.COM
(prgsatish@yahoo.com)

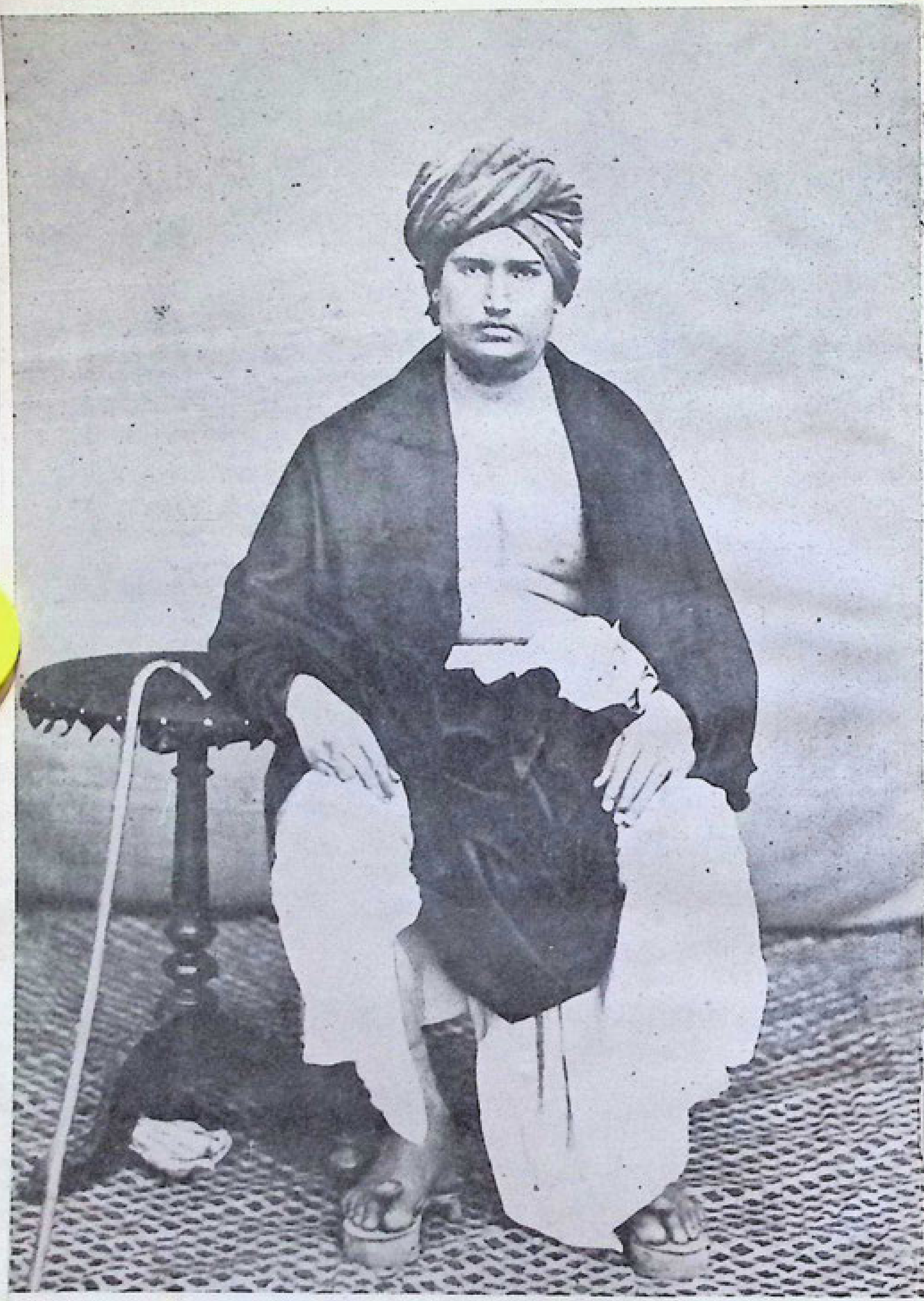

स्वामी दयानन्द सरस्वती

आधुनिक भारत के निर्माता

स्वामी दयानन्द सरस्वती

लेखक : धनपति पाण्डेय

अनुवादक : राजीव चतुर्वेदी

सप्रेम - सस्नेह भेंट :

S. C. GUPTA, MUMBAI

[illegible] प्रतिनिधि सभा, मुम्बई

Cell Phone : 91-9820587609

Fixed Lines : 022-26149353/24310944

Email : PRGSATISH@YAHOO.COM

प्रकाशन विभाग

सूचना और प्रसारण मंत्रालय

भारत सरकार

आषाढ़ 1914 ☐ जुलाई 1992

© प्रकाशन विभाग

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केन्द्र ☐ प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001, दूरभाष : 3313308
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038, दूरभाष : 2610081
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069, दूरभाष : 286696
- एल.एल.ए. आडीटोरियम, 736 अन्नासलै, मद्रास-600002, दूरभाष : 867643
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004, दूरभाष : 653823
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695001, दूरभाष : 88650
- 10-बी, स्टेशन रोड, लखनऊ-226019, दूरभाष : 245785
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद-500004, दूरभाष : 236393

अरावली प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा. लि., W-30 ओखला इन्डस्ट्रियल एरिया, फेस-II, नई दिल्ली-110020 द्वारा मुद्रित।

इस पुस्तकमाला के सम्बंध में

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए भारत के उन यशस्वी पुत्रों और पुत्रियों के जीवन संघर्षों और उपलब्धियों की कथा को लेखबद्ध करना है, जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता की प्राप्ति में प्रमुख भाग लिया। कुछ अपवादों को छोड़कर ऐसे प्रामाणिक जीवन चरित्र उपलब्ध नहीं हैं।

हमारी योजना प्रतिष्ठित राष्ट्र निर्माताओं की संक्षिप्त जीवनियां, विषय की जानकारी रखने वाले व्यक्तियों से सरल भाषा में लिखवाकर छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करने की है। वैसे न तो ये विस्तृत अध्ययन के इरादे से तैयार की जा रही हैं और न अधिक बड़ी जीवनियों का स्थान लेने के लिए।

इन जीवनियों के लिखने का काम भिन्न-भिन्न लेखकों को सौंपना पड़ता है। अतः इन्हें कालक्रमानुसार प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकता। परंतु यह आशा की जाती है कि थोड़े ही समय में समस्त लब्धप्रतिष्ठ राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियां इस पुस्तकमाला में प्रकाशित हो जाएंगी।

स्व. श्री आर.आर. दिवाकर इस पुस्तकमाला के प्रधान सम्पादक हैं।

प्रस्तावना

स्वामी दयानन्द का स्थान भारत के निर्माताओं में है। उनकी यह जीवनी लिखने के लिए अनेक साधन-सूत्रों की सहायता ली गई है जिनमें भारत सरकार के खुफिया विभाग की दैनिक, साप्ताहिक और मासिक रिपोर्टों, गोपनीय और गुप्त सरकारी आलेख, समसामयिक अखबार और पत्र-पत्रिकाएं तथा स्वामीजी के जीवन से सम्बंधित कुछ कृतियां शामिल हैं। कुछ संस्मरणों और भाषणों का उपयोग भी किया गया है।

मैं सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग का बड़ा आभारी हूं जिन्होंने यह कार्य मुझे सौंपा और इसे आग्रहपूर्वक लिखवाया। मैं कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में रीडर, डा. के.सी. यादव तथा श्री जे.एफ.टी. जार्डेस का भी ऋणी हूं क्योंकि स्वामीजी के विषय में लिखी उनकी पुस्तकों से यह जीवनी तैयार करने में मुझे बहुत सहायता मिली। पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में दयानन्द वैदिक चेयर के प्रोफेसर डा. भवानीलाल भारतीय तथा उस्मानपुरा (गुजरात) के श्री नरेन्द्र दवे का भी मैं आभारी हूं जिनके पत्रों और लेखों से मुझे मूल्यवान सामग्री प्राप्त हुई।

—लेखक

विषय-सूची

1.	परिचय	1
2.	जन्म और बचपन	9
3.	ज्ञान और सत्य की खोज में	18
4.	एक महापुरुष का उदय	33
5.	आर्य समाज की स्थापना	52
6.	एक सच्चा-धर्म योद्धा	73
7.	सामाजिक पुनर्निर्माण	92
8.	दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद	115
9.	आर्य समाज के प्रति ब्रिटिश सरकार का रवैया	142
10.	राष्ट्र-निर्माता दयानन्द	164
	परिशिष्ट	173
	श्रद्धांजलियां	179

परिचय

भारतीय पुनर्जागरण काल के महान नेताओं में स्वामी दयानन्द सरस्वती का अनूठा स्थान है। अपने समय में उन्होंने हजारों लोगों को प्रभावित किया और उनका वह प्रभाव आर्य समाज के जरिए आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। भारत के इस महान सपूत ने करोड़ों भारतवासियों के मन पर छाए अज्ञान रूपी अंधकार को हटाने और अकर्मण्य पुरोहित वर्ग द्वारा सदियों के दौरान खड़े किए गए अंधविश्वास, मिथ्यावाद, धर्मान्धता को समाप्त करने के लिए सतत प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय समाज की वैज्ञानिक और तर्कसंगत आधार पर पुनर्रचना करके उसे राजनीतिक मुक्ति पाने योग्य बनाने का जो प्रयत्न किया, वह अत्यंत सराहनीय है। उन्होंने भारतीय राष्ट्र और समाज का पुनर्निर्माण करने और देशभक्ति की भावना उत्पन्न करने के उद्देश्य से आर्य समाज की स्थापना की। मानव कल्याण के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने वाला यह व्यक्ति निश्चय ही एक महान विभूति था।

बुद्ध की तरह ही उनका जन्म एक सम्पन्न और वैभवशाली परिवार में हुआ था। जब उनके माता-पिता ने उन्हें विवाह करने के लिए बाध्य करना चाहा तो उन्होंने घर त्याग दिया और ज्ञान तथा सत्य की खोज में हिंमालय क्षेत्र और देश के अन्य भागों का भ्रमण करने निकल पड़े। आधुनिक भारत के नेताओं में शायद उनसे अधिक देशाटन करने वाला व्यक्ति दूसरा नहीं होगा। उन्होंने 1846 में संन्यास ग्रहण किया था और तब से लेकर मृत्यु पर्यन्त उन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की तथा न केवल शास्त्रों एवं वेदों का ही, बल्कि समकालीन जन-जीवन का भी गहन अध्ययन किया।

स्वामी दयानन्द की गणना आधुनिक भारत के निर्माताओं में होती है। जिस काल में उनका प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारतीय समाज विश्रृंखल

होता जा रहा था। उन्होंने भारत की राजनीतिक पराधीनता को लक्ष्य किया और यह देखकर उन्हें गहरी पीड़ा होती थी कि अपने पिछड़ेपन के कारण भारतवासी तरह-तरह के दुख झेल रहे हैं। उन्होंने बड़े ही दुख के साथ अवनति की निंदा करते हुए कहा : दुर्भाग्य, आलस्य, उपेक्षा और आंतरिक मतभेदों के कारण अन्य देशों की बात तो दूर, स्वयं भारत में आर्यों की अपनी एक स्वतंत्र स्वाधीन या निर्भीक सरकार नहीं है। आज जो कुछ थोड़ा-बहुत है वह भी विदेशी है। कुछेक रियासतें स्वतंत्र हैं। दुर्दिन आने पर किसी भी देश के निवासियों को तरह-तरह की कठिनाइयां भोगनी पड़ती हैं ...।" दयानन्द भारत राष्ट्र का नवनिर्माण करके जीवन के सभी क्षेत्रों में सुधार लाना चाहते थे। वह भलीभांति जानते थे कि भारतीयों को अपनी संस्कृति पर पूरी आस्था है, किन्तु अंग्रेजों ने भारत पर पाश्चात्य सभ्यता थोपकर उसे 'उन्नत' किया है। दयानन्द शायद पहले राष्ट्रवादी व्यक्ति थे जिन्होंने इसका विरोध किया और देश की मौलिक प्रतिभा को पुनः ऊपर उठाने की भरसक कोशिश की। पश्चिम के रंग में रंगे हुए भारतीयों ने अंधविश्वास, मिथ्यावाद और धर्मान्धता पर सीधा प्रहार अवश्य किया, लेकिन वह जो उपदेश देते थे, उसे अपने निजी जीवन में उतार नहीं पाते थे। राजनीति के क्षेत्र में समाज का यह वर्ग ब्रिटिश शासन का विरोध नहीं करता था, बल्कि वह फिरंगीराज को मुसलमानों के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने वाला एक दैवी वरदान मानता था। यह वर्ग ब्रिटिश राज को एक राष्ट्रीय आवश्यकता के रूप में स्वीकारता था। पश्चिम से प्रभावित एक अत्यंत प्रबुद्ध सुधारवादी नेता का कहना था : "जब विजेता जाति के लोग विजित जाति के लोगों से अधिक सभ्य हों, तब ऐसी दशा में पराधीनता को बुराई नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विजेता पराजित जाति को सभ्यता के लाभ प्रदान करता है।" एक अन्य पश्चिम प्रेमी सुधारक का कहना था : "यह (ब्रिटिश राज) नियति का एक ऐसा साधन है जिसके जरिए वह पतन के गर्त में गिरे हुए देश को अन्य राष्ट्रों के समकक्ष लाना चाहता है।" अंग्रेजों द्वारा भारतीयों का जो आर्थिक शोषण किया जा रहा था, उसे देख कर भी पुनर्जागरण के इन पश्चिम प्रेमी नेताओं की आंखें नम नहीं होती थीं।

वस्तुतः ये सुधारवादी नेता नवोदित मध्यवर्ग के सदस्य थे जिनके

आर्थिक हित अंग्रेजों ने सुरक्षित कर दिए थे और इसी कारण वे अंग्रेजों द्वारा स्थापित राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली का विरोध करने की स्थिति में नहीं रह गए थे। निजी और सार्वजनिक जीवन में इनकी करनी और कथनी का अंतर इतना स्पष्ट था कि वे अच्छे समाज-सुधारक हो ही नहीं सकते थे।

स्वामी दयानन्द की आस्थाएं और मान्यताएं इन पश्चिम से प्रभावित नेताओं से भिन्न थीं। वह इन मध्यवर्गीय सरकारी पिट्ठुओं में से नहीं थे। वह एक संन्यासी थे और धन तथा यश की उन्हें कामना नहीं थी। वह अपनी मिसाल खुद थे जिनके बारे में महर्षि अरविन्द घोष ने लिखा है कि भारतीय नवजागरण के नेताओं में एक नेता ऐसा है जो अपनी विशिष्टताओं के कारण सबसे अलग दिखाई पड़ता है। उसका काम करने का ढंग सबसे निराला है। ठीक उसी प्रकार जैसे पहाड़ी श्रृंखला में दूर तक जाने पर कोई व्यक्ति सामने ऊंची-नीची चोटियां देखता है और सभी चोटियां हरीतिमा से आच्छादित बड़ी ही सुहावनी प्रतीत होती हैं, लेकिन इन तमाम पहाड़ियों के बीच उसे एक ऐसी प्रस्तर पहाड़ी नजर आती है जिसकी चोटी नीले आकाश को बेधती हुई दिखाई पड़ती है, जिसके शिखर पर एक अकेला चीड़ का वृक्ष है। इस पहाड़ी से गिरता है जल का प्रपात जो घाटियों को जीवन और स्वास्थ्य प्रदान करता है। दयानन्द मेरे मन में ऐसी ही छवि उभारते हैं।

दयानन्द एक महान योगी, क्रांतिकारी सुधारक, दार्शनिक, राजनीतिक चिंतक और धार्मिक योद्धा थे। उन्होंने अपने देश की समस्याओं से जूझने का अपना एक अलग तरीका निकाला। वह अज्ञान को सारे दुखों की जड़ मानते थे। इस अज्ञान के उन्मूलन पर ही मुक्ति निर्भर करती थी। जब तक अज्ञान है, मुक्ति सम्भव नहीं है। एक क्रांतिकारी सुधारक के रूप में उन्होंने मूर्तिपूजा, अस्पृश्यता, बाल-विवाह और सतीप्रथा के विरुद्ध अथक संघर्ष किया। उन्होंने कहा कि गंगा के पवित्र जल में स्नान करने से पापों का निवारण नहीं हो जाता। उन्होंने कहा कि ईश्वर न्यायी है और इस प्रकार के अनुष्ठानों से उसे मूर्ख नहीं बनाया जा सकता। उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध करते हुए कहा: "एक सर्वव्यापी ईश्वर की उपासना करो जो निराकार है, अजन्मा है, असीम है, सर्वशक्तिमान है, दयालु तथा न्यायप्रिय है। वही इस

ब्रह्माण्ड का स्रष्टा और ध्वंसकर्ता है। वह सबको उनके कर्मों के अनुसार उचित फल देता है। वह सर्वगुण सम्पन्न है।"

दयानन्द ने अंधविश्वास के ऊपर भी हमला किया। वह स्वर्ग और नरक की कल्पना के विरुद्ध थे। उन्होंने कहा कि स्वर्ग और नरक की स्थितियां मानव अपने कर्मों के अनुसार भोगता है। मनुष्य अपने बुरे कर्मों के अनुसार दुख और अच्छे कर्मों के अनुसार सुख भोगता है।"

दयानन्द जातिप्रथा के घोर विरोधी थे। ईश्वर ही सब जीवों का स्रष्टा है, इस सिद्धान्त पर उन्होंने जाति, धर्म, रंग और लिंग के सभी भेदों को गलत बताया और कहा कि ये मनुष्य को मनुष्य से अलग करने वाली दीवारें हैं। उन्होंने कहा कि जाति का निर्धारण योग्यता, उपलब्धियों और चरित्र के आधार पर होना चाहिए, जन्म के आधार पर नहीं। उन्होंने कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वंश में जन्मे किसी व्यक्ति का कर्म यदि नीच है तो उसे शूद्र मानना चाहिए। लेकिन उन्होंने समाज की चार वर्ण वाली, धंधे पर आधारित व्यवस्था का समर्थन किया जिसमें चिंतकों, मनीषियों और शिक्षकों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। लेकिन उन्होंने इसमें किसी प्रकार की कट्टरता को अनुचित बताते हुए जाति प्रथा का विरोध किया। महात्मा गांधी ने इस क्षेत्र में उनके योगदान को स्वीकार करते हुए कहा था: "स्वामी दयानन्द ने जो बहुत-सी अच्छी बातें हमें दीं, उनमें से एक है अस्पृश्यता के विरुद्ध उनकी शिक्षाएं।"

कट्टरपंथियों के तमाम विरोधों के बावजूद दयानन्द ने आजीवन समाज सुधार का काम जारी रखा। उन्होंने देखा कि जब तक निरक्षरता, आर्थिक गरीबी और राजनीतिक दासता रूपी ये तीन बड़ी बुराइयां दूर नहीं होंगी तब तक सामाजिक जीवन में सुधार नहीं आ सकता और न ऐसी स्थिति में भारत के जन-जीवन में कोई क्रांति ही सम्भव है। उन्होंने एक-एक करके तीनों समस्याओं से निपटने का काम हाथ में लिया। वह पश्चिमी शिक्षा को नापसंद करते थे अतः उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा का समर्थन किया। उन्होंने सभी के लिए निःशुल्क शिक्षा की योजना बनाई और कहा कि सरकारी कानून बनना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपने लड़के या लड़की को पांच या

ज्यादा से ज्यादा आठ वर्ष की आयु के बाद स्कूल अवश्य भेजेगा। इसका पालन न करने वाले माता-पिता को सरकार दंडित करे।' पाठ्यक्रम के बारे में उनका कहना था कि इसमें ज्ञान की सभी शाखाओं का समावेश होना चाहिए। भाषा, कला, विज्ञान और टैक्नोलाजी पर एक-समान जोर दिया जाना चाहिए। शिक्षा सम्बंधी उनके विचारों का उनके अनुयायियों, आर्य समाजियों पर गहरा असर पड़ा और उन्होंने अनेक शिक्षा संस्थाएं स्थापित कीं। स्वामीजी की मृत्यु के बाद 1 जून 1886 में लाहौर में दयानन्द एंग्लो-वैदिक हाई स्कूल स्थापित हुआ और इसके दो वर्ष के भीतर ही पंजाब तथा अन्य स्थानों में उनकी स्मृति में अनेक हाई स्कूलों, कालेजों और गुरुकुलों की स्थापना हुई। ये सभी संस्थाएं राष्ट्रीय आधार पर खोली गई थीं और इन सभी को दयानन्द के शिक्षा सम्बंधी आदर्शों के अनुरूप स्थापित किया गया था।

दयानन्द ने अपने चारों ओर मौत और गरीबी, अभाव और भुखमरी का तांडव देखा था। भारतीय उद्योगों का ह्रास हो गया था और कृषि की दशा दयनीय थी। 1860-64 में पड़े विनाशकारी अकाल के कारण लाखों लोग मर गए थे। ऐसा विनाश भारत ने इससे पहले कभी नहीं देखा था। 'सोने की चिड़िया' कहे जाने वाले भारत को, जहां दूध और शहद की नदियां बहती थीं, कभी पारस पत्थर कहा जाता था जिसके स्पर्श से विदेशी लोग लोहे को भी सोना बना लेते थे। लेकिन लोगों के अज्ञान, अशिक्षा, दासता, स्वार्थ, अकर्मण्यता और आलस्य ने इस समृद्ध देश को भयंकर गरीबी और विपन्नता का शिकार बना दिया था। दयानन्द ने कहा कि आयावर्त तब तक दुखों से ग्रस्त रहेगा, जब तक यहां अज्ञानजनित अंधविश्वास और आलस्य का बोलबाला रहेगा। उन्होंने विज्ञान और टैक्नोलाजी अपनाने, स्वदेशी माल का उपयोग करने और इन सबसे ऊपर गुलामी को खत्म करने पर बल दिया।

स्वामीजी ने अपने देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने पर विशेष बल दिया। उनका कहना था कि कोई भी देश विदेशी ज्ञान की नींव पर अपना भवन निर्माण नहीं कर सकता। उन्होंने वेदों की ओर लौटने और

उनके आधार पर अपने राष्ट्र का निर्माण करने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि वेद ही भारत के धर्म, संस्कृति और सभ्यता के मूल स्रोत हैं, वे ही भारतीय चिंतन, दर्शन और ज्ञान का मूलाधार हैं और उन्हीं में हमें भारत को पुनर्जीवित करने की संजीवनी मिलेगी। उन्होंने स्वराज के आदर्श का प्रतिपादन किया। सर्वप्रथम उन्होंने ही कहा था कि सुशासन स्वशासन का विकल्प नहीं हो सकता। कांग्रेस का जन्म होने से भी पहले स्वामीजी ने स्वराज की आवाज बुलंद की थी। बाद में कांग्रेस ने भी इसे अपना लक्ष्य घोषित किया। धर्मोपदेश करते हुए भी स्वामीजी विदेशी प्रभाव का सक्रिय प्रतिकार करने का आह्वान करते थे। मूर्ति-पूजा के बारे में बोलते हुए उन्होंने कहा कि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए हमने मूर्तियों पर भरोसा किया, स्वयं पर भरोसा करके पुरुषार्थ नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि हम पराजित हुए। देश का शासन, हमारी स्वाधीनता, हमारी धन-सम्पदा और हमारा सुख हमारे शत्रुओं के हाथों में चला गया। हमें लूटा गया और हम गुलाम बन गए। इस प्रकार हमारी दशा कुम्हार के गधे जैसी हो गई। हम हजारों प्रकार के दुखों से घिर गए। श्री हर्बर्ट रिजले ने लिखा है : ''दयानन्द जानते थे कि दार्शनिक समझौतावाद की ठंडी पड़ चुकी राख में से देशभक्ति की ज्वाला पैदा नहीं की जा सकती और सक्रिय राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न करने से पहले स्वयं हिन्दुत्व को अपने अंदर पूरी सुदृढ़ता उत्पन्न करनी होगी।''

दयानन्द भारतीयों द्वारा अंग्रेजी को अपनाने के विरोधी थे। उन्होंने हिन्दी की महत्ता बताई और प्राचीन पंचायत प्रणाली तथा एक राष्ट्रीय धर्म पर बल दिया। राष्ट्रीय धर्म का प्रचार करते हुए उन्होंने किसी विदेशी धर्म की आलोचना नहीं की। उन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्म की जो बातें मिथ्या थीं, केवल उनका विरोध किया, ठीक उसी तरह जिस तरह हिन्दू धर्म की मिथ्या बातों का। लोगों में परस्पर वैमनस्य फैलाने वाली बातों का उन्होंने विशेष विरोध किया, भले ही वे किसी भी धर्म की हों। उन्होंने सार्वभौम सत्य का प्रचार किया और लोगों को एक धर्म के नीचे लाने का प्रयास किया ताकि लोग शांति से रहते हुए मानव कल्याण के लिए काम करें। संक्षेप में, उन्होंने सभी धर्मों को एक सार्वभौम धर्म के झंडे तले लाने का प्रयास किया।

इस्लाम के प्रबल समर्थक सर सैयद अहमद खां ने उनकी प्रशंसा में कहा: ''एक उद्‌भट विद्वान होने के अलावा वह अत्यंत उदात्त और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे।...मैं उनसे भली-भांति परिचित था और उनका बहुत आदर करता था क्योंकि वह इतने श्रेष्ठ और विद्वान पुरुष थे कि उनके प्रति आदर-भाव रखना सभी व्यक्तियों को शोभा देता था, भले ही उनका अपना धर्म भिन्न ही क्यों न हो। वह इतने महान व्यक्ति थे कि भारत में उनका कोई दूसरा सानी नहीं है। सी.एफ एण्ड्रयूज ने कहा था: ''हम आज जिस युग में रहते हैं, स्वामी दयानन्द उससे कहीं ऊंचे थे। उनकी आध्यात्मिक ईमानदारी, उनके साहसिक चरित्र, उनके सादे जीवन, उनके उच्च आदर्शों में लोग वैदिक काल को मूर्तिमंत हुआ देख सकते थे। इस महान स्वामी की महान आत्मा का प्रकाश इतना चुम्बकीय था, प्राणवान था, उसमें इतनी प्रखर ईमानदारी और वीरता थी कि उनके मरने के बाद लोगों ने उससे प्रेरित होकर उनके संदेश को आगे बढ़ाया।''

दयानन्द के उग्र राजनीतिक संदेश का उनके अनुयायियों पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। आर्यसमाजियों ने अपने नेता का अनुसरण न केवल उनके जीवनकाल में बल्कि मरणोपरांत भी किया। वे सभी राष्ट्रवादी थे और देशभर में बड़ी संख्या में राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हुए। पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान में उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को प्रभावित किया। यहां तक कि 1905 में बंगाल के आंदोलन को भी उन्होंने प्रभावित किया। लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानंद, एम.जी. रानडे, भाई परमानंद, श्यामजी कृष्ण वर्मा, अजित सिंह, भगतसिंह आदि अनेक नेता दयानंद और उनके आर्य समाज से प्रभावित हुए। आर्य समाज की स्थापना करने और पंजाब की राजधानी लाहौर में आर्य समाज के स्थापित होने के बाद दयानंद कुछ ही वर्ष और जीवित रहे, लेकिन पंजाब में उसकी जड़ें बहुत गहरी पैठ गईं। समय के साथ चलते हुए और शिक्षा के क्षेत्र में काम करके तथा राष्ट्रीयता की प्रबल भावना का प्रसार करते हुए आर्य समाज आधुनिक भारत में एक बहुत बड़ी जीवंत शक्ति बन गया है। जे.एफ. फुलर ने लिखा है: ''आर्य समाज ने न केवल धार्मिक सुधार और राष्ट्रीय पुनर्जागरण, बल्कि एक ऐसी उद्दाम और सर्वग्राही राष्ट्रीयता के धर्म को जन्म दिया जिसकी

तुलना 1789 में फ्रांस की क्रांतिजनित राष्ट्रीयता की भावना से ही की जा सकती है।''

स्वामी दयानन्द ने भारत की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों की जो तीव्र आलोचना की और विभिन्न समस्याओं का जो समाधान प्रस्तुत किया, उससे उन्होंने आधुनिक चिंतन की आधारशिला रखी। इस महान नेता ने इस देश की राजनैतिक प्रगति को जबर्दस्त गति प्रदान की। महर्षि दयानन्द ने अत्यंत दुख के साथ महसूस किया था कि भारत किस प्रकार परिस्थितिवश भौतिक और मानसिक दासता के गर्त में धंस गया था। यही चीज बाद में महात्मा गांधी ने भी अनुभव की। उन्होंने बाद में अनेक अवसरों पर महर्षि दयानन्द के प्रति इस देश की गहरी कृतज्ञता को अभिव्यक्ति दी।

जन्म और बचपन

उन्नीसवीं सदी में गुजरात ने दो महापुरुषों को जन्म दिया—स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी। स्वामी दयानन्द की प्रभा ने स्वयं उन्नीसवीं शताब्दी को प्रकाशित किया और महात्मा गांधी ने अगली शताब्दी के पूर्वार्द्ध को अपनी महानता से आलोकित किया। दयानन्द ने स्वराज के आदर्श की कल्पना की और गांधीजी ने स्वराज के लिए संघर्ष किया। स्वामीजी ने संघर्ष का सूत्रपात किया और गांधीजी ने उसे विजयमाला पहनाई। ये दोनों ही महापुरुष आधुनिक भारत के निर्माता थे।

पश्चिम भारत में काठियावाड़ में एक रियासत थी मोरवी। इसी रियासत में टंकारा नामक एक छोटा-सा कस्बा है, जहां के एक समृद्ध ब्राह्मण (औदीच्य) परिवार में 1824 में दयानन्द का जन्म हुआ। बालक का नाम रखा गया मूल शंकर।

स्वयं स्वामी दयानंद द्वारा दिए गए दो विवरणों से उनके बाल्यकाल पर काफी प्रकाश पड़ता है। पहला विवरण 1875 में पुणे में दिए उनके भाषण में मिलता है और दूसरा उनके एक लेख में, जिसे उन्होंने पांच वर्ष बाद 'थियोसोफिस्ट' नामक पत्रिका के लिए लिखा था। इनसे पता चलता है कि वह एक काठियावाड़ी रियासत में एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। किन्तु उन्होंने अपने जन्मस्थान और अपने पिता का नाम नहीं बताया। इसका कारण देते हुए वह लिखते हैं कि मैं अपने सुविख्यात पिता का नाम और नगर का नाम इस कारण नहीं दे रहा हूं क्योंकि यदि मेरे पिता या परिजन अभी भी जीवित हैं तो वे मेरे पास आ जाएंगे जिससे मेरे सुधार कार्य में बाधा उत्पन्न होगी। मुझे उनकी सेवा करनी होगी और उनके साथ रहने में मेरी शक्ति और मेरे साधनों का व्यय होगा, जो मैं नहीं करना चाहता।

एक जीवनीकार श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार दयानन्द के पिता का नाम कृष्णजी लालजी तिवारी (या त्रिवेदी) था। उनके पिता जमींदार और साहूकार थे और कर वसूली का काम भी करते थे। साहूकारी का धंधा करके उन्होंने काफी पैसा जोड़ लिया था। जरूरतमंद लोगों को वह सूद पर पैसा उधार देते थे। बड़ी जमींदारी के मालिक होने के नाते रियासत और समाज में उनको प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था।

दयानन्द जिस परिवार में जन्मे थे वह बहुत ही रूढ़िवादी था। उनके पिता शिव के परम भक्त थे। वह पुराने विचारों के कट्टरपंथी थे और उन्हें धार्मिक मान्यताओं और रीति-रिवाजों में गहरी आस्था थी। दयानन्द के पिता के बारे में लाला लाजपतराय ने लिखा है : ''जहां तक धार्मिक रीति-रिवाजों का सवाल था, नियमों की लीक से या धर्म-ग्रंथों में जो लिखा है या जैसी परम्परा चली आ रही है उससे कोई भी चीज उन्हें हटा नहीं सकती थी। वह आस्थावान, दृढ़ संकल्पी और उग्र स्वभाव के व्यक्ति थे।'' वह नियमपूर्वक नित्य पार्थिव पूजा, शिवलिंग की पूजा और संध्या-वंदन करते थे। वह निष्ठापूर्वक सभी शैव रीतियों का पालन करते थे। शिवरात्रि के अवसर पर वह उपवास रखते थे, स्थानीय शिव मन्दिर में पूजा करते थे, मंदिरों तथा धार्मिक समारोहों में जाते थे और पुराण पाठ में सम्मिलित होते थे।

मूल शंकर का जन्म और पालन-पोषण ऐसे ही पारिवारिक वातावरण में हुआ था। उनके पिता चाहते थे कि वह भी धार्मिक प्रवृत्ति के बनें और पिता के धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करें। उन्हें वैसी ही शिक्षा दी गई। अपने पिता की देख-रेख में उनकी पढ़ाई शुरू हुई। पांच वर्ष की अवस्था में उन्हें देवनागरी लिपि तथा जाति के रीति-रिवाजों का ज्ञान कराया गया। धर्म शास्त्रों के श्लोकों को कंठस्थ कराया गया। माता-पिता ने उन्हें परिवार के रीति-रिवाजों की शिक्षा दी। आठ वर्ष का होने पर उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ, गायत्री मंत्र की दीक्षा दी गई, संध्या पूजन की विधि सिखाई गई और रुद्राध्याय से आरम्भ करके यजुर्वेद संहिता का अध्ययन कराया गया। मूल शंकर को शिव के प्रतीक पार्थिव लिंग की पूजा विधि सिखाई गई। व्रत-उपवास भी करने पड़ते थे। मूल शंकर भोजन जल्दी कर लेने के आदी

थे। ऐसा करना उनके अच्छे स्वास्थ्य के लिए हानिकर होगा, यह सोचकर मां ने इसका विरोध किया, किन्तु पिता का आग्रह था कि ये नियम परिवार की परम्परा के अनुकूल हैं। अतः मूल शंकर को पिता की देख-रेख में सारे नियमों का कठोरता से पालन करना पड़ता था। मूल शंकर की माता बड़ी ही सौम्य, मृदु स्वभाव की नेक महिला थीं और इस प्रकार के कठोर नियमों के विरुद्ध थीं। वह चाहती थीं कि उनका बच्चा खूब खेले-खावे। बच्चे को कठोर व्रतधारी के रूप में देखकर उन्हें कष्ट होता था। हिन्दुओं में ऐसी धारणा है कि यदि कोई व्यक्ति अपना उपवास बीच में तोड़ दे तो भयानक आपत्ति आती है। इसी भय से वह मूल शंकर से उपवास कराने के विरुद्ध थीं। वह अपने पति से बच्चे से कठोर अनुष्ठान न कराने का अनुरोध करती थीं। अक्सर पति-पत्नी में इस बात को लेकर झगड़ा भी होता था। लेकिन कृष्णजी इस मामले में कट्टर थे और चाहते थे कि उनका पुत्र भी उन जैसा ही बने।

मूल शंकर ने संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया और वेदों को कंठस्थ करने का अभ्यास जारी रखा। चौदह वर्ष की उम्र में ही उन्हें वेदों के अधिकांश अंश कंठस्थ हो गए और यजुर्वेद तो बिलकुल ही कंठस्थ हो गया। अब उन्होंने संस्कृत व्याकरण, तर्कशास्त्र और शब्द रूपावदी जैसे संस्कृत के ग्रंथ पढ़ने आरम्भ किए। अध्ययन मनन के अलावा वह अपने पिता के साथ धार्मिक स्थलों, मंदिरों आदि में जाते थे। उनके पिता चाहते थे कि मूल शंकर के मन में यह बात बैठ जाए कि शिवोपासना से बढ़कर कोई चीज नहीं है और शिव की उपासना पूरी भक्ति के साथ की जानी चाहिए।

मूल शंकर के बचपन में दो-चार ऐसी घटनाएं घटित हुई जिनसे उनके जीवन और विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया। पहली घटना का सम्बंध मूर्ति-पूजा से है। ऐसी घटनाएं सामान्यतः घटती ही रहती हैं, किंतु एक महान आत्मा के लिए इनका महत्व कुछ असाधारण ही होता है। कहा जा सकता है कि इसमें दिव्य शक्ति जैसी किसी चीज का हाथ होता है।

मूल शंकर की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त होने पर पिता ने सोचा कि अब उसे शिवरात्रि का व्रत उपवास और रात्रि-जागरण जैसा कठोर अनुष्ठान

करना चाहिए। शिव-भक्तों के लिए शिवरात्रि का विशेष महत्व है। इस दिन भक्त लोग पूरी तरह पवित्र रहकर निष्ठा के साथ पूजा-अर्चना करते हैं। शिवालयों को खूब सजाया जाता है और शिव की मूर्तियों को अलंकृत किया जाता है।

मूल शंकर के यहां भी पूरी तैयारी की गई। उसके पिता दिन भर इस काम में खूब व्यस्त रहे। मूल शंकर भी कौतूहल और उत्सुकता से सब देख रहा था। उसके पिता ने कहा: ''बेटे, शिवरात्रि आ गई। देवाधिदेव महादेव की पूजा से बड़ी पूजा और कुछ नहीं है। तुम बड़े हो गए हो और परिवार की परम्परा के अनुसार अब तुम्हें इसमें दीक्षित होना है। व्रत-उपवास करते हुए भक्तिभाव से शिव का ध्यान-पूजन करो तो निश्चय ही तुम्हें अलौकिक सुख की प्राप्ति होगी।''

मूल शंकर की मां कुछ परेशान हुई, लेकिन उन्होंने देखा कि बच्चा स्वयं अपने पिता की आज्ञा का पालन करने को उद्यत है। पिता ने मूल शंकर को शिवरात्रि का माहात्म्य समझाया जो मूल शंकर को बड़ा अच्छा लगा। दयानंद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है: 1833 के उस वर्ष मेरी मां के कहने-सुनने की परवाह न करते हुए भी पिता ने मुझे आज्ञा दी कि मैं 'पार्थिव पूजन' से अनुष्ठान का आरम्भ करूं। शिवरात्रि के महान् दिवस पर, जिस दिन उपवास और पूजा की जाती है, (यह दिन माघ बदी 13 के बाद पड़ता है) इस बात की अवहेलना करते हुए कि शायद मेरी शक्ति जवाब दे जाए, मेरे पिता ने मुझे उपवास करने की आज्ञा दी। उन्होंने कहा कि उस रात वह मुझे पवित्र शिवकथा की दीक्षा देंगे और मुझे रात भर शिव मंदिर में जागरण करना होगा। तदनुसार मैंने उनका अनुसरण किया। मूलशंकर खुश थे। सुबह हुई, दिन ढला, फिर शाम हुई। मूल शंकर उत्साह से भरे हुए थे। उपवास के कारण उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई।

इसके बाद आया रात्रि-जागरण का अवसर। पिता और पुत्र गांव के सबसे बड़े शिवालय कुबेरनाथ मंदिर में पहुंचे। यही वह मंदिर था, जहां से मूल शंकर के अंदर दयानन्द का जन्म होने वाला था।

अब रात्रि-जागरण आरम्भ हुआ। यह जागरण चार भागों में होता है

जिसे प्रहर कहते हैं। प्रत्येक प्रहर तीन-तीन घंटे का होता है। दो प्रहर जगने के बाद मध्यरात्रि में मूल शंकर ने देखा कि मंदिर के पुजारी और कुछ भक्त महिलाएं मंदिर के गर्भगृह से बाहर आकर सो गए हैं। मूल शंकर को बचपन से बताया गया था कि इस रात्रि को जो भक्त सो जाए, उसका जीवन भर का अर्जित पुण्य नष्ट हो जाता है। वह बेचारा मुंह और आंख पर पानी के छींटें मार-मार कर किसी प्रकार अपने को जगाए रख रहा था। लेकिन मूल शंकर के पिता का दुर्भाग्य कि दिन भर की थकान उन पर हावी हो गई और मूल शंकर को अकेला जागता छोड़कर वह भी नींद की गोद में सो गए।

नींद से संघर्षरत मूल शंकर, शंकर की स्तुति में श्लोक जपता हुआ बैठा था कि तभी एक अत्यंत साधारण-सी घटना ने उसका ध्यान आकृष्ट किया। कुछ चूहे शिवलिंग के पास आए और लिंग से किसी प्रकार का खतरा न जानते हुए उन्होंने उसके पास रखे भक्तों द्वारा अर्पित प्रसाद को खाना शुरू कर दिया। मूल शंकर के बाल-मन में विचारों का द्वंद उठ खड़ा हुआ। अपनी आत्मकथा में स्वामीजी ने लिखा है कि मैंने स्वयं से प्रश्न किया कि क्या यह सम्भव है कि मानव से मिलती-जुलती यह मूर्ति, वैयक्तिक ईश्वर की यह प्रतिमा, जिसे मैं अपने सामने बैल पर आरूढ़ देख रहा हूं, और जो तमाम धार्मिक आख्यांनों के अनुसार चलता-फिरता है, खाता है, सोता और पीता है, जो अपने हाथ में त्रिशूल धारण कर सकता है, डमरू बजा सकता है और मनुष्यों पर वरदानों की वर्षा कर सकता है—क्या यह सम्भव है कि यह महादेव, कैलाशपति, जिसकी कथाएं पुराणों में बताई जाती हैं, यही वह परमब्रह्म है? संक्षेप में मूल शंकर ने महादेव शिव और अपने सामने पड़ी निर्जीव, निष्क्रिय पत्थर की मूर्ति के पारस्परिक सम्बंधों पर विचार करना शुरू किया जिसे उसकी आंख के सामने चूहे अपवित्र कर रहे थे, और उसे इन दोनों के बीच साम्य स्थापित करना असम्भव लगने लगा। पिता ने उसे बताया था कि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है और यह मूर्ति उन्हीं का प्रतिरूप है, साक्षात शिव है, और इससें मनुष्य को वरदान देने की शक्ति है। लेकिन उन्होंने जो प्रत्यक्ष देखा था, उसकी संगति सुनी हुई बात से नहीं बैठ रही थी। मूर्ति निश्चय ही एक निर्जीव वस्तु थी जो चूहों के उत्पात से अपनी रक्षा करने में भी असमर्थ थी। तब निश्चय ही पूजा की यह विधि ठीक

नहीं हो सकती और यह मूर्ति साक्षात शिव नहीं हो सकती, जैसा कि पुजारी लोग कहते हैं। स्वामीजी लिखते हैं कि ऐसे विचार उठने पर जब रहा नहीं गया तो मैंने अपने पिता को जगाया और पूछा कि मुझे बताएं कि मंदिर में रखी यह शिव प्रतिमा धर्मग्रंथों में वर्णित शिव ही है या कुछ और चीज है। पिता ने कहा: ''तुम ऐसा क्यों पूछते हो?'' मैंने कहा, ''क्योंकि मैं इस मूर्ति का तालमेल एक सर्वशक्तिमान, जीवंत ईश्वर की कल्पना के साथ नहीं बैठा पा रहा हूं जो अपने शरीर पर चूहों को दौड़ने देकर बिना प्रतिरोध किए मूर्ति को अपवित्र होने दे रहा है।'' ऐसा प्रश्न निश्चय ही मेरे पिता की कट्टरता पर गहरा आघात था। उन्होंने इसे अशुभ लक्षण माना। शिवरात्रि के दिन, मंदिर के अंदर मूर्ति के सामने भगवान शिव के प्रति ऐसा शंकापूर्ण प्रश्न का उठाना निस्संदेह बहुत बड़ा पाप था। पिता ने समझाना चाहा: ''कैलाशपति महादेव का यह प्रस्तरी प्रतिरूप, पवित्र ब्राह्मणों द्वारा अत्यंत पवित्र ढंग से प्रतिष्ठित होने के बाद साक्षात ईश्वर हो गया है और उसी रूप में उनकी पूजा की जाती है।'' उन्होंने आगे कहा, ''चूंकि कलियुग में साक्षात शिव का दर्शन नहीं हो सकता, अतः इसी मूर्तिरूप में कैलाशपति महादेव की भक्तों द्वारा पूजा की जाती है। इससे महादेव उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं जैसे मूर्ति की जगह स्वयं उन्हीं की पूजा की जा रही हो।'' किन्तु इस कैफियत से मूल शंकर को संतोष नहीं हुआ। विवेक की कसौटी पर जो बात ठीक नहीं थी, उससे वह संतुष्ट भी कैसे होते। इस समय तक भूख और नींद उन पर हावी होने लगी थी। उनके पिताजी ने, जो स्वयं सोते हुए पकड़े गए थे और इस कारण उनका रुख कुछ नरम पड़ गया था, उन्हें घर जाने की अनुमति दे दी, लेकिन उन्होंने यह आदेश दोहराया कि किसी भी हालत में वह अपना उपवास न तोड़े। घर पहुंचने पर मूलशंकर ने अपनी मां को बताया कि उन्हें बहुत जोर की भूख लगी है तो मां ने उन्हें भरपेट मिठाइयां खिलाईं और इसके बाद मूल शंकर गहरी नींद सो गए।

इस बात से मूल शंकर के माता-पिता के बीच फिर तकरार हुई, किन्तु इस बार उसकी मां ने मूल शंकर के एक चाचा की मदद से पिता को राजी कर लिया कि वह मूल शंकर को इतने सारे पूजा-अनुष्ठानों के लिए बाध्य न करें और उन्हें पढ़ाई करने दें। अध्ययन के साथ अब उन्हें पूजा-पाठ के लिए

बहुत समय नहीं मिल पाता था।

अब उन्होंने वैदिक शब्दावली, उनके अर्थ, निघंटु, निरुक्त और पूर्वमीमांसा की कर्मकांड प्रणाली का गहन अध्ययन किया। वह एक कुशाग्र, लगनशील और परिश्रमी विद्यार्थी थे। किन्तु सामान्य बालक के विपरीत उनकी बुद्धि विश्लेषण और शंका का समाधान पाने को व्यग्र रहती थी। ज्ञान की तलाश करने वाला यह बालक किसी भी चीज की तह तक पहुंचना चाहता था।

यह घटना स्वयं में साधारण होते हुए भी दर्शाती है कि स्वामी दयानन्द आरम्भ से ही विवेकशील और सच्चे क्रांतिकारी थे। वे जन्मजात विद्रोही थे। उन्होंने अपने पिता की सत्ता के विरुद्ध चौदह वर्ष की कच्ची उम्र में धार्मिक पूर्वाग्रहों और अंधविश्वासों के बंधनों के खंडन का संकल्प कर लिया था जिन्होंने देशवासियों की बुद्धि और चरित्र को जकड़ रखा था।

शिवरात्रि वाली घटना के कुछ ही वर्षों बाद परिवार में हुई दो मौतों ने उन्हें गहरा सदमा पहुंचाया और इससे उन्हें पहली बार मृत्यु की भयावहता का अनुभव हुआ। पहली मौत थी उनकी बहन की जो चौदह वर्ष की आयु में हैजे का शिकार हुई। इसका उनको गहरा धक्का लगा। दयानन्द ने आत्मकथा में लिखा है: ''सभी इलाज-उपचार के बावजूद मेरी बहन मर गई...यह मौत के हाथों पहला विछोह दुख था और मुझे गहरा धक्का लगा। मेरे आसपास सभी मित्र और सम्बंधीजन रो रहे थे, लेकिन मैं स्तब्ध खड़ा था—विचारमग्न।'' फलस्वरूप वह लम्बे समय तक जीवन की अस्थिरता पर विचार करने लगे। उन्हें लगा कि मौत के ठंडे पंजों से कोई भी नहीं बच सकता और किसी दिन उन्हें भी मरना होगा। वह सोचते कि इस मानवीय दुख को हल्का करने के लिए मुझे क्या करना चाहिए? अंततः उन्होंने निश्चय किया कि चाहे कुछ भी कीमत क्यों न देनी पड़े, वह इन सवालों का जवाब ढूंढेंगे ताकि मृत्यु के क्षणों की अकथनीय यातनाओं से स्वयं को बचा सकें।

बहन की मृत्यु के बाद उनके चाचा की मृत्यु हुई। यह चाचा मूल शंकर को बहुत प्यार करते थे। दयानन्द लिखते हैं कि जब मैं 19 वर्ष का था, मेरे

चाचा जो बहुत विद्वान और दैवी गुणों से युक्त थे और जिनके मन में मेरे लिए बहुत ममता थी तथा जिनका मैं जन्म से ही चहेता था, का देहांत हो गया (1842 में)। उनकी मृत्यु से मैं गहरे विषाद में डूब गया। मेरे मन में यह धारणा और ज्यादा गहरी हो गई कि संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है, कुछ भी ऐसा नहीं है जिसके लिए जिया जाए। इन दो दुखद मौतों ने उन्हें इतना हिला दिया कि वह जीवन की क्षणभंगुरता और मोक्ष प्राप्ति के उपाय के बारे में सोचने लगे। मोक्ष संन्यास और योग साधना के जरिए प्राप्त किया जा सकता था। भगवान बुद्ध ने एक अर्थी देखी और उनके पूछने पर लोगों ने बताया : "राजकुमार, यह मनुष्य मर गया है। हमारी भी यही गति होगी।" ऐश्वर्य और सुख का भोग करने वाले बुद्ध ने तुरंत संन्यास ले लिया। सुंदर पत्नी, प्यारा पुत्र, राजमहल, रथ इत्यादि कोई भी उन्हें आकर्षित न कर सका। वह एकदम बदल गए। मूल शंकर का भी अनुभव कुछ ऐसा ही था। उन्होंने दो मौतें देखी थीं; जीवन और मृत्यु की समस्या उनके समक्ष खड़ी थी। उन्होंने निश्चय किया कि अब उन्हें मोक्ष की तलाश करने से कोई नहीं रोक सकेगा—मोक्ष अर्थात हिन्दुओं की मान्यता के अनुसार जन्म और मरण के चक्र से छुटकारा।

मूल शंकर अपने मित्रों के साथ इन विषयों पर चर्चा करते थे। जब उनके माता-पिता को यह पता चला तो उन्होंने सोचा कि अब उनकी शादी जल्दी-से-जल्दी कर देनी चाहिए। यह वही सदियों पुराना उपाय था कि मनुष्य को ऐसे मोहपाश में बांध दिया जाए, जिससे वह घर का त्याग न कर सके। बुद्ध के माता-पिता और गुरु नानक के माता-पिता ने भी यही उपाय किया था। इन दोनों ने अपने माता-पिता का विरोध नहीं किया था, किन्तु दयानन्द ने उनकी योजना का विरोध किया और विवाह करने से इन्कार कर दिया। इस समय वह उन्नीस वर्ष के थे। मित्रों के समझाने-बुझाने से विवाह की बात एक वर्ष के लिए टल गई। लेकिन अब कृष्णजी ने जोर दिया कि मूल शंकर घर की जमींदारी की कुछ जिम्मेदारी संभालना शुरू करे। इससे भी मूल शंकर ने इन्कार कर दिया। उन्होंने पिता से कहा कि वह उन्हें व्याकरण, ज्योतिष विज्ञान और आयुर्विज्ञान का अध्ययन करने के लिए वाराणसी जाने की आज्ञा प्रदान करें। प्राचीन काल में संस्कृत साहित्य,

धर्मशास्त्र और दर्शन का अध्ययन करने के इच्छुक लोग देश के कोने-कोने से वाराणसी आते थे। मूल शंकर के प्रस्ताव का उनके पिता और परिवार के अन्य सदस्यों ने घोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि जब तक विवाह न हो जाए, उन्हें वाराणसी नहीं जाना चाहिए क्योंकि लड़की के पिता ज्यादा प्रतीक्षा नहीं करेंगे। मूल शंकर के माता-पिता को अपने पुत्र के दिमाग में चलने वाली उथल-पुथल का अंदाजा था और इसीलिए उसके अनुरोध को अस्वीकार कर दिया गया। अंत में समझौते का रास्ता निकाला गया। मूल शंकर को अपनी ही जमींदारी में पड़ने वाले कौशिया नामक गांव में जाकर एक पंडित के पास अध्ययन जारी रखने की अनुमति प्रदान की गई। कौशिया में रहते हुए कुछ समय तक वह शांतिपूर्वक अध्ययन करते रहे। वहां भी विवश होकर एक दिन उन्होंने विवाह के प्रति अपनी गहरी अरुचि प्रकट की। इसकी सूचना जब उनके माता-पिता को मिली तो उन्होंने मूल शंकर को वापस बुला लिया। आत्मकथा में दयानन्द लिखते हैं: ''यह देखकर मैं आश्चर्य में पड़ गया कि मेरे विवाह की सारी तैयारियां कर ली गई थीं। मैं इक्कीसवें वर्ष में प्रवेश कर चुका था। मैंने अच्छी तरह जान लिया कि अब मैं विवाह से किसी प्रकार बच नहीं पाऊंगा।''

उनके मन में जो सपना था, उसे पूरा करने का अब एकमात्र उपाय था—पलायन। अत: 1846 की एक सुबह वह चुपचाप अपने घर से निकले और ज्ञान, सत्य तथा मोक्ष की अपनी खोज-यात्रा पर चल पड़े। घर छोड़कर उन्होंने सारे भारत को अपना घर बना लिया। उन्होंने अपने स्वजन-परिजनों को त्यागा ताकि वह सम्पूर्ण मानवजाति और सत्य की सेवा कर सकें। उस दिन उठाए गए अपने इस कदम पर उन्हें कभी खेद नहीं हुआ। यह ऐसा कदम था जिसने उन्हें अपने देशवासियों, अपने देश और ईश्वर की आजीवन सेवा करने का अवसर प्रदान किया था। इतिहास साक्षी है कि यह सेवा उन्होंने जीवन के अंतिम क्षणों तक की।

ज्ञान और सत्य की खोज में

मूल शंकर को अपने स्थानीय वातावरण और परिवेश से बाहर की दुनिया का कोई अनुभव नहीं था। उन्होंने उन रास्तों, गांवों और बस्तियों से बचते हुए, जहां डर था कि उन्हें कोई पहचान लेगा, अपना रास्ता चुना। इस सावधानी का फल यह हुआ कि उनके पिता और रिश्तेदार उन्हें खोज न सके। रास्ते में उन्हें भिखारियों का एक दल मिला, जिसे उन्होंने अपना सारा धन और पास की अन्य मूल्यवान वस्तुएं दान कर दीं। अपने पास की सब वस्तुओं का भार उतार कर अब वह सायला नामक एक कस्बे में पहुंचे जहां लाला भगत नामक एक प्रसिद्ध विद्वान रहते थे। मूल शंकर ने रास्ते में साधुओं से लाला भगत के बारे में बहुत कुछ सुना था। इस कस्बे में उन्हें एक युवा ब्रह्मचारी मिला जिसने उन्हें अपने पंथ में शामिल होने का निमंत्रण दिया। मूल शंकर उसके साथ हो गए। यह बात 1846 की है। उन्होंने गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया और उनका नाम शुद्ध चैतन्य रखा गया। शीघ्र ही वह वहां से पूर्व दिशा में अहमदाबाद के निकट कोट कांगड़ा नामक स्थान की ओर चल पड़े, जहां वह तीन माह तक रहे। इसके बाद वह अपने भगवा वस्त्रों में अहमदाबाद के निकट की ही एक छोटी रियासत में पहुंचे। वह यहां 1846 में जुलाई से अक्तूबर तक ठहरे। यहां उनकी भेंट एक वैरागी से हुई जो मूल शंकर के पड़ोसी गांव का निवासी था और उसके परिवार को भली-भांति जानता था। दयानन्द लिखते हैं कि वह हम लोगों को अच्छी तरह जानता था और मुझे इस हाल में देखकर आश्चर्यचकित रह गया। मैं भी उसे देखकर स्तब्ध रह गया। उसने मुझसे इस हालत में मेरे वहां आने का कारण पूछा। मैंने कहा कि मैं दुनिया देखने की इच्छा से निकला हूं। उसने मुझे बहुत भला-बुरा कहा और मेरे लिबास की हंसी उड़ाई। तब मैंने कहा कि मैं सिद्धपुर का कार्तिक मेला देखने जा रहा हूं। इस पर वह वैरागी चला गया

और मैं सिद्धपुर की ओर चल पड़ा। वहां मैं नीलकंठ के मंदिर में कुछ अन्य साधुओं के साथ ठहरा।

शुद्ध चैतन्य अब साधुओं की संगत में थे। अब वह भिन्न-भिन्न क्षमताओं, विभिन्न स्वभाव, विभिन्न प्रकृतियों और विभिन्न मत-मतांतर वाले साधुओं के बीच थे। कुछ समय तक वह इनकी संगत का आनंद उठाते रहे और इस दौरान उन्होंने अनेक विद्वानों और धर्माचार्यों से भेंट की। उधर कोट कांगड़ा में जो वैरागी उन्हें मिला था, उसने उनके साथ धोखा किया। उसने उनके घरवालों को पत्र लिखकर उनके इरादों और उनके रहने के ठिकाने का पता दे दिया था। इसका फल यह हुआ कि उनके पिता अपने सिपाहियों के साथ सिद्धपुर आ पहुंचे। मूल शंकर को पकड़कर रात भर एक कमरे में बंद रखा गया और दरवाजे पर एक सिपाही तैनात कर दिया था। मूल शंकर ने इस कैद से भागने का निर्णय किया और उसी रात भाग निकलने में सफल हो गए। सुबह होने तक वह अपने पिता को पीछे छोड़कर कई मील दूर निकल चुके थे। इस घटना के बाद उनकी अपने पिता से कभी भेंट नहीं हुई। अपने परिवार के साथ अब उनका पूरी तरह से सम्बंध-विच्छेद हो गया था। अब इस युवा संन्यासी ने पूरे पन्द्रह वर्षों (1846 से 1860) तक ज्ञान और सत्य की खोज में भारत के चारों कोनों का भ्रमण किया। प्रसिद्ध विद्वानों, साधु-संतों और मनीषियों की खोज में शुद्ध ज्ञान और सत्य का यह पिपासु जगह-जगह गया। जहां कहीं कुछ प्राप्त हो सकता था, वहीं उस महान् व्यक्ति के चरणों में बैठकर ज्ञानार्जन करने के लिए यह संन्यासी ठहर जाता था। घर छोड़ने के अपने निर्णय का उन्हें कभी खेद नहीं हुआ क्योंकि यह कदम उन्होंने अपने देशवासियों, अपने देश और अपने परमात्मा की सेवा की खातिर उठाया था। आंतरिक विश्वासों के मामले में उनके पिता द्वारा (पिता होने के) अधिकार का दुरुपयोग करने के विरुद्ध मूल शंकर के विद्रोह की यह तर्कसंगत परिणति थी। अब उन्होंने फैसला कर लिया कि अपने परिवार या नगर का नाम वह किसी को नहीं बताएंगे।

अहमदाबाद से वह बड़ौदा पहुंचे, जहां वह कुछ समय तक चैतन्यमठ में

ठहरे। यहां उन्होंने ब्रह्मानन्द तथा अन्य विद्वानों के साथ वेदांत पर चर्चाएं कीं। ब्रह्मानन्द तथा अन्य धार्मिक विद्वानों के साथ इन चर्चाओं ने उन्हें पूरी तरह संतुष्ट कर दिया कि ब्रह्म और कोई नहीं, स्वयं उनका अहं ही है—अहं ब्रह्मास्मि। ब्रह्म और जीव एक ही हैं। दयानन्द लिखते हैं कि वेदांत के आरम्भिक अध्ययन से मुझे ऐसा विश्वास तो होने लगा था, किन्तु यहां मेरा यह विश्वास बिलकुल पक्का हो गया कि मैं ब्रह्मस्वरूप हूं। इस प्रकार उनके भावी विकास की नींव यहां पड़ी जिसका असर जीवन के अंत तक उन पर रहा। 1847 के पूरे वर्ष का समय उन्होंने वेदांत के अध्ययन में लगाया—पहले बड़ौदा में और फिर नर्मदा नदी के दूसरे तट पर बसे चाणोद करनाली नामक स्थान पर।

बड़ौदा में उन्हें एक बनारसी स्त्री से पता चला कि वहां कहीं पंडितों का एक समागम होने वाला है। वहां उन्हें सच्चिदानंद परमहंस नामक एक बहुत बड़े विद्वान के साथ अनेक वैज्ञानिक और आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा करने का अवसर मिला। उन्हें पता चला कि चाणोद करनाली में अनेक बड़े संन्यासी और ब्रह्मचारी हैं। वहां उन्हें अनेक योगियों और संन्यासियों के दर्शन का लाभ मिला। यहां उन्हें आदि शंकर द्वारा स्थापित दंडी पंथ के सरस्वती सम्प्रदाय वाले परमानंद परमहंस के पास रहकर अनेक महीनों तक वेदांतसार, वेदांत परिभाषा आदि अनेक धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन का अवसर मिला। दयानंद लिखते हैं कि इस समय एक ब्रह्मचारी के रूप में मुझे अपना भोजन स्वयं बनाना होता था। मुझे लगा कि अध्ययन में इससे बाधा पड़ती है। अतः मैंने संन्यास की दीक्षा लेने का निश्चय किया।

अब प्रश्न उठा कि उन्हें संन्यास धर्म में दीक्षित कौन करे? शुद्ध चैतन्य की इच्छा थी कि उनका गुरु वही हो जो आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ हो। यह एक महत्वपूर्ण संस्कार था। उन्होंने वेदों में निष्णात और योग शास्त्र के ज्ञाता एक दाक्षिणात्य पंडित, चिदाश्रम स्वामी को चुना। किन्तु शुद्ध चैतन्य को दीक्षित करने से उन्होंने इनकार कर दिया। शायद इसका कारण उनकी कम उम्र थी। लेकिन शुद्ध चैतन्य जल्दी निराश होने वाले नहीं थे। वह धैर्यपूर्वक अवसर की प्रतीक्षा करते रहे। शीघ्र ही वह अवसर भी आ गया। वह लिखते हैं कि कुछ महीनों बाद दक्षिण से एक दंडी स्वामी और एक

ब्रह्मचारी आए और जहां हम रहते थे वहां से लगभग दो मील दूर चाणोद के निकट एक जंगल में एक भवन के खंडहर में उन्होंने अपना डेरा डाला। वेदांत दर्शन में पारंगत मेरा दाक्षिणात्य मित्र और मैं उनसे मिलने गए। अध्यात्म पर उनके साथ चर्चा से पता चला कि वे प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने बताया कि वे शृंगेरी मठ से आये हैं और द्वारका जाएंगे।

दयानन्द संसार-त्यागी संन्यासी बनने को बहुत उत्सुक थे। संन्यासी की कोई जाति नहीं होती, घर नहीं होता, सम्पत्ति और अग्नि का वह प्रयोग नहीं करता तथा एक जगह टिक कर नहीं रहता। एक बार संन्यास धर्म में दीक्षित हो जाने के बाद उनके माता-पिता उन्हें विवाह करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे। अन्ततः उन्होंने पूर्णानन्द परमहंस से अनुरोध किया कि वे उन्हें संन्यास में दीक्षित करें। पहले तो उन्होंने मना कर दिया, लेकिन बाद में उन्हें दीक्षित करके उन्हें दयानन्द का नाम दिया। चूंकि वह सरस्वती सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए थे अतः उनको दयानन्द सरस्वती के रूप में ख्याति मिली। जीवन के अंतिम समय तक स्वामीजी ने किसी को अपना वास्तविक नाम नहीं बताया।

दीक्षा संस्कार के बाद मूलजी ने एक नए जीवन में प्रवेश किया। अब वह सांसारिक बंधनों से सर्वथा मुक्त थे। एक संन्यासी के रूप में उन्हें गौरवशाली जीवन व्यतीत करना था। वह सम्पत्ति और पत्नी नहीं रख सकते थे। धनार्जन करने का निषेध था और इस प्रकार अब वह पूरी तरह अध्ययन, मनन और सेवाकार्य के लिए समर्पित थे। आध्यात्मिक जीवन के अनुशासन में रहते हुए उन्हें संन्यास धर्म के सभी नियमों का पालन करना था। उन्हें सेवा करनी थी, लेकिन उसके बदले कुछ स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनकी कोई जाति नहीं थी। वह मांसाहार नहीं कर सकते थे, किन्तु किसी भी जाति या धर्म के मानने वाले के हाथों से निरामिष भोजन स्वीकार कर सकते थे। वह किसी एक जगह बहुत दिनों तक टिक कर नहीं रह सकते थे और न अपना कोई घर ही बना सकते थे।

शुद्धीकरण और संकल्प सस्कार के बाद दयानन्द ने अपने पुरखों का श्राद्ध किया, स्वयं अपना भी श्राद्ध किया तथा पितृ के रूप में अपने पूर्व जीवन

को पिण्डदान किया। कौटुम्बिक नातों से इस प्रकार मुक्त होने के बाद उनका सर मूंड दिया गया। उन्होंने अपने पास जो कुछ भी था, वह सब दान कर दिया। इसके बाद उन्होंने अनेक प्रकार से यज्ञ-हवन करके देवताओं के प्रति सारे दायित्वों से मुक्ति प्राप्त की। अंत में जनेऊ उतार कर और शिखा कटाकर उन्होंने संसार से पूरी तरह सम्बंध विच्छेद कर लिया। फिर उन्होंने निर्वस्त्र होकर जल में डुबकी लगाई और सात कदम चलकर बाहर आए, जैसा कि कहा जाता है कि बुद्ध ने अपने जन्म के समय किया था। इस प्रकार अब एक नए पुरुष का जन्म हुआ।

पहला काम जो दयानन्द ने किया वह यह कि अपना दंड उन्होंने अपने गुरु को वापस कर दिया। यह उनके दृढ़ चरित्र की एक विशेषता प्रदर्शित करता है। दंड के द्वारा अनेक क्रियाएं की जाती थीं जो उनके अध्ययन में बाधक होतीं, इसलिए उन्होंने ऐसा किया था। दंड-त्याग का ऐसा ही एक दृष्टांत एक आधुनिक संन्यासी ने दिया है: "गुरु ने तब मुझे दंड पकड़ाया। मैंने दंड को प्रणाम किया और फिर उसे नदी में दूर फेंक दिया और कहा, मां गंगे, इस दंड को रखो, क्योंकि मेरे पास नियमों के पालन का अब कोई अवकाश नहीं है।"

अद्वैत का अध्ययन करते हुए दयानन्द कुछ समय तक चाणोद-करनाली में रहे। फिर वह नर्मदा के उत्तरी तट पर स्थित व्यास आश्रम में चले गए जो चाणोद से पांच मील की दूरी पर है। यह आश्रम योगसाधना के लिए प्रसिद्ध था। योगसाधना के प्रसिद्ध ज्ञाता स्वामी योगानन्द इस आश्रम के प्रधान थे। उनका शिष्य बनकर दयानन्द ने योग-विद्या सीखी। वह वहां 1848 में पांच-छः महीने तक रहे। आरम्भिक शिक्षा पूरी करके वह सिनोर गए, जहां उन्होंने कृष्णशास्त्री से संस्कृत व्याकरण की शिक्षा ली। वहां से लौटकर वह पहले चाणोद, फिर अहमदाबाद के निकट एक स्थान पर तथा अन्त में आबू गए। वहां उन्होंने योग-साधना पर विशेष ध्यान दिया। पहले दो स्थानों पर ज्वालानंद पुरी और शिवानंद गिरि उनके शिक्षक रहे और आबू पर्वत पर भवानी गिरि नामक साधु ने उन्हें योगाभ्यास की शिक्षा दी। 1854 के अंत में वह आबू से हरिद्वार के कुम्भ मेले में गए। यहां पवित्र गंगा स्वर्ग से अवतीर्ण

होकर बहती है। इस पवित्र तीर्थ में भारत के कोने-कोने से भक्तजन आते हैं।

कुम्भ मेले का आकर्षण और बद्रीनाथ तथा जोशीमठ की यात्रा की इच्छा उन्हें उत्तर की ओर लाई थी। इन मठों की स्थापना आदि शंकराचार्य ने की थी। दयानन्द गंगा में स्नान करने या मेले में भाग लेने के विचार से यहां नहीं आए थे। उनकी यात्रा का उद्देश्य किसी ऐसी धर्मस्थली के दर्शन करना नहीं था, जहां स्वर्ग स्वयं झुककर धरती का स्पर्श करता हो और जहां की हवा भी पवित्र होती हो। दयानन्द तो यहां ऐसे गुरु की तलाश में आए थे जो उन्हें योग-साधना के गूढ़तम रहस्य बता सके। दयानन्द लिखते हैं कि मेरे मन में हिमाच्छादित पर्वतों में जाकर यह पता लगाने की इच्छा थी कि शायद यहां कहीं कोई सर्वांगपूर्ण ऋषि और योगी रहता हो।

यहां उनकी भेंट अनेक साधुओं और धर्मशास्त्र के ज्ञाताओं से हुई, लेकिन किसी के प्रवचनों से उन्हें संतोष नहीं हुआ। उनके अनुसार 'पुराने समय में शायद यह स्थल साधुओं और ऋषियों का आवास रहा हो; अब तो यहां भिखारी रहते हैं। संन्यासियों के डेरों पर अब दुकानदार रहते हैं जो सब प्रकार का मिथ्याचार करते हैं और संन्यासी नहीं हैं। वह कुम्भ मेले की समाप्ति तक वहां रहे और चंडी के जंगल में एकांत योग-साधना करते रहे। हरिद्वार से वह ऋषिकेश गए जो हरिद्वार से ऊपर करीब 14 मील की दूरी पर गंगा-तट पर स्थित है। यहां उन्होंने सच्चे साधु-संतों के साथ कुछ समय व्यतीत किया, साथ ही अपना अध्ययन और योग-साधना भी जारी रखी। उन दिनों ऋषिकेश में बहुत थोड़े से मकान और मंदिर थे और गंगा के किनारे दुकानों की एक पंक्ति थी। यहां से चल के दयानन्द टेहरी राज्य की राजधानी टेहरी पहुंचे। यहां दयानन्द ने हिन्दुओं में प्रचलित क्रूर प्रथाएं और हिन्दू धर्म का विकृत स्वरूप देखा। अपनी इस यात्रा के दौरान उन्हें हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अध्ययन करने का अवसर मिला। उनको पढ़कर उन्हें लगा कि सामान्य विवेक के साथ उनमें कितना गहरा अन्तर्विरोध है। यहीं पहली बार तांत्रिक क्रियाओं से भी उनका सामना हुआ। एक पंडित ने अपने घर पर उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित किया था।

वहां पहुंचने पर उन्होंने बकरे की खाल, मांस, और उसका कटा हुआ सर देखा। यह दृश्य देखकर उनका दिल वितृष्णा से भर उठा और उन्होंने भोजन करने से इनकार कर दिया। लेकिन पंडित ने उन्हें जो तंत्र सम्बंधी ग्रंथ दिए थे, उनको उन्होंने मनोयोग से पढ़ा और इस नतीजे पर पहुंचे कि वे अश्लील, पापपूर्ण और बुद्धि भ्रष्ट करने वाली बातों से भरे हुए हैं।

शायद यह पहला अवसर था जब दयानन्द को पहली बार यथार्थ से पाला पड़ा था। उन्होंने सपने में भी नहीं सोचा था कि एक पंडित मांस खा सकता है। समय काटने के विचार से दयानन्द ने पंडित से पूछा कि क्या यहां कुछ ग्रंथ उपलब्ध हैं। पंडित ने बताया कि संस्कृत साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष और तंत्र विषयक ग्रंथ मिल जाएंगे। दयानन्द ने संस्कृत साहित्य की अन्य पुस्तकें तो पढ़ी थीं, लेकिन तंत्र शब्द उन्होंने पहली बार सुना था। उन्होंने सोचा कि इस सम्प्रदाय के साहित्य का भी अध्ययन किया जाए। उन्होंने तंत्र विधा के ग्रंथ लेकर पढ़े तो पाया कि उसमें नग्न व्यभिचार भरा पड़ा है। वह इन्हें पढ़कर स्तब्ध रह गए। वह लिखते हैं कि मैंने इन पुस्तकों में माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहन के बीच सम्भोग होने या नीची जाति की स्त्रियों के साथ सम्भोग करने, नंगी स्त्री की पूजा करने, मांस-मछली खाने, मदिरा के सेवन की बातें पढ़ीं और वह भी मोक्ष प्राप्ति के उपाय के रूप में; तो मैं विस्मय मूढ़ हो गया। मेरा पक्का विश्वास बन गया कि दुष्टों द्वारा अपनी वासनाओं को तृप्त करने के उद्देश्य से इन पुस्तकों की रचना की गई है और उन्होंने ही इन्हें धर्म ग्रंथ कह कर प्रचारित किया है। यह तो समझा जा सकता है कि तंत्र की रचनात्मक क्रियाओं ने दयानन्द को जुगुप्सा से भर दिया होगा, लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि तंत्र योग में उन्होंने किस तरह रहकर उसका अध्ययन किया। हठ योग के संदर्भ में उसके कुछ तरीकों का उन्होंने प्रयोग भी किया था।

टेहरी से चलकर दयानन्द श्रीनगर आए। हरिद्वार से 66 मील दूर यह छोटा-सा नगर बद्रीनाथ के रास्ते में पड़ता है—बद्रीनाथ, जहां शंकराचार्य ने तान्त्रिकों की घोर आलोचना की थी। यहां रहकर उन्होंने तंत्र का भी गहन अध्ययन किया लेकिन आगामी दो महीने उन्होंने गंगा गिरि नामक एक

संन्यासी के साथ योग और अन्य धार्मिक विषयों की चचा म बिताए। यह संन्यासी वहीं निकट की एक पहाड़ी पर एकांत में कुटी बनाकर रहता था। गंगा गिरि का सत्संग उन्हें इतना अच्छा लगा कि वह उसके साथ दो महीने से अधिक रहे। केदार-बद्री की ओर जाते हुए वह रुद्रप्रयाग से गुजरे जो एक छोटा-सा कस्बा है और कहते हैं कि यहां नारद ऋषि ने तपस्या की थी। इन छोटे पड़ावों पर रुकते हुए वह शिवपुरी नामक पर्वत शिखर की ओर चले। यहां उन्होंने चार महीने व्यतीत किए। अब तक योग के जिन नए पक्षों का ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था, यहां उनका अभ्यास करते रहे। यहां के एकांतवास के बाद वह गुप्तकाशी पहुंचे जो अगस्त्य मुनि के आश्रम के निकट एक छोटा-सा गांव है। कहते हैं, देवंताओं ने शिव को प्रसन्न करने के लिए यहां तप किया था। वह गौरीकुंड, भीमकुंड और त्रियुगीनारायण आश्रम भी गए। कहते हैं कि त्रियुगीनारायण में शिव-पार्वती का विवाह हुआ था। उन्हें यह स्थान अच्छा नहीं लगा और वह केदारनाथ लौट आए। यहां से वह निकटवर्ती पहाड़ियों पर गए, लेकिन कुछ प्राप्त नहीं हुआ। वह वापस केदारघाट लौट आए।

पर्वतों की कठिन चढ़ाई और कड़कती ठंड की परवाह न करते हुए दयानन्द ने सच्चे ऋषियों-तपस्वियों की निष्फल खोज में बीस दिन भटकते हुए बिताए। अंततः वह तुंगनाथ शिखर पर पहुंचे, जो केदारनाथ से 20 मील की दूरी पर है। शिखर पर बने मंदिर में उन्होंने पुजारियों की भीड़ और मूर्तियों की भरमार देखी। यह सब देखकर वह खिन्न हुए और उसी दिन नीचे उतरने का निश्चय किया। लौटते हुए वह भयानक जंगल में रास्ता भटक गए लेकिन बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार वह केदारनाथ से 26 मील दूर नीचे बने हुए एक मंदिर ऊखीमठ पहुंच गए। ऊखीमठ को और अच्छी तरह देखने की इच्छा से वह फिर वहां लौटकर गए, लेकिन उन्होंने पाया कि वहां की पर्वत-कंदराओं में रहने वाले सभी साधु पाखंडी थे। यहां एक महंत ने दयानन्द को अपना शिष्य बनाना चाहा और बहुत धन-दौलत तथा अपनी गद्दी के उत्तराधिकार का प्रलोभन उन्हें दिया। दयानन्द ने उसका प्रस्ताव यह कहकर ठुकरा दिया कि यदि मैं धन-दौलत चाहता तो अपना घर-बार और अपने माता-पिता को छोड़कर नहीं आया होता। उन्होंने महंत से

साफ-साफ कह दियां कि यदि मैं आपके पास रहूंगा तो जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मैंने अपना घर-बार छोड़ा है वह मुझे कभी नहीं मिल सकेगा। उन्होंने महंत को बताया कि यह खोज सत्य, ज्ञान, सच्चे योग और योग के जरिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए है।

कुछ दिन और रुकने का अनुरोध अस्वीकार करते हुए दयानन्द जोशी मठ पहुंचे जहां वह कुछ समय तक दाक्षिणात्य शास्त्रियों और संन्यासियों के साथ रहकर योगशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करते रहे। जोशीमठ से दयानन्द बद्रीधाम गए। बद्रीनाथ के बड़े महंत रावलजी थे जो बड़े ही विद्वान पुरुष थे। यहां रहकर दयानन्द ने उनके साथ कुछ दिन वेद और दर्शन की चर्चा की। दयानन्द ने रावलजी से पूछा कि क्या वह उन्हें आसपास किसी सच्चे योगी का पता बता सकते हैं। रावलजी ने बताया कि इस समय तो ऐसा कोई योगी यहां नहीं है, लेकिन कभी-कभी वे बद्रीनाथ के दर्शनों को आते रहते हैं। दयानन्द ने उनकी तलाश में देशाटन करने और विशेष रूप से हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र को छानने का निश्चय किया।

एक सुबह वह अलकनंदा के किनारे-किनारे उसके उद्‌गम स्थल की दिशा की ओर चल पड़े। बद्रीनाथ के निकट माणा गांव से आगे वह उस दुर्गम क्षेत्र में एक बार फिर रास्ता भटक गए। उन्होंने अपने को माणा दर्रे के निकट एक जंगल में पाया। इस दर्रे से होकर तिब्बत जाने का रास्ता है। लगभग 50 वर्ष बाद इसका विवरण दयानन्द ने इस प्रकार दिया :

प्राचीन ग्लेशियरों के सरकने के साथ और वातावरण के उग्र परिवर्तनों के फलस्वरूप पर्वतों से धसक और टूटकर बहुत सारी चट्टाने और मलबा इकट्ठा हो गया है, जिसके कारण हिमालय के इस हिस्से में माणा दर्रा बहुत दुर्गम हो गया है। तिब्बत जाने वाले किसी भी अन्य रास्ते के मुकाबले यह दर्रा सबसे अधिक ऊंचाई पर है। रास्ता तो क्या, यहां पगडंडी नाम की कोई चीज नहीं है, लेकिन यह रास्ता सरस्वती घाटी से ऊपर जाता हुआ उस नदी तट तक पहुंचता है जिसके उस पार से तिब्बत की सीमा शुरू होती है। थकान, भूख, प्यास और पैरों के जख्मों ने दयानन्द को अधमरा कर दिया। वह लगभग हताश हो गए। उनकी जीवनी में तो ज्यादा कुछ लिखा नहीं

मिलता, लेकिन पूना में दिए अपने भाषण में वह अपने इस यात्रा के संस्मरण सुनाते हुए कहते हैं: ...मेरे मन में यह विचार आया कि मैं अपने शरीर को बर्फ में ठंड से जम जाने दूं और इस संसार के दुखों से मुक्ति प्राप्त कर लूं। इस समय तक सिद्ध योगियों की तलाश में इस क्षेत्र में घूमते दयानन्द को एक वर्ष हो गया था और अब तक निराशा ही उनके हाथ लगी थी। लेकिन निराशा के यह क्षण शीघ्र ही गुजर गए। दयानन्द के अनुसार: मेरे मन में विचार आया कि मनुष्य को सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही शरीर-त्याग करना चाहिए। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण इच्छा-शक्ति के बल पर अपने जर्जर हो रहे शरीर को संभाला और प्रबल प्रयास करके उस स्थान से उसी रात केदारघाट तक की वापसी यात्रा पूरी कर डाली। अगले दिन वह गंगा की घाटियों में उतरकर रामपुर की ओर चल पड़े।

रामपुर में वह प्रसिद्ध संत रामगिरि के घर पर ठहरे। इस संत की विचित्र आदतें देखकर पहले तो वह कुछ चकराए लेकिन शीघ्र ही उन्होंने समझ लिया कि वह सच्चा योगी नहीं है। अतः वह रामपुर से चलकर काशीपुर के निकट द्रोण सागर आ गए। यहां उन्होंने एक बार सोचा कि वह हिमालय पर जाकर अपने जीवन का अंत कर डालें, लेकिन फिर एक दूसरा विचार उनके मन में कौंधा कि आत्महत्या करना कायरतापूर्ण कार्य होगा। सच्ची पुरुषार्थी आत्मा को अंत तक संघर्ष करना चाहिए, अधिक-से-अधिक ज्ञान अर्जित करना चाहिए, और फिर निरुद्विग्न भाव से मौत की प्रतीक्षा करनी चाहिए। बहुत शक्तिशाली और पहुंचे हुए लोग भी कभी-कभी निराशा के शिकार हो जाते हैं, लेकिन औसत साधारण मनुष्य के विपरीत वह इस निराशा के आगे घुटने नहीं टेकते। वह निराशा के क्षणिक दौर से उबर कर नई शक्ति, नए उत्साह से लक्ष्य पर पहुंचते हैं या फिर लक्ष्य-प्राप्ति के प्रयत्न में समाप्त हो जाते हैं। शास्त्रों की शिक्षा और अपने संस्कारों से प्राप्त आंतरिक ज्ञान के प्रकाश में उन्होंने स्पष्ट देखा कि सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना ही उनका धर्म है, फल के लिए उन्हें अधीर नहीं होना चाहिए। यदि वह अपने प्रति और अपने ध्येय के प्रति सच्चे रहेंगे तो यथा समय परमात्मा की कृपा से उन्हें फल की प्राप्ति होगी।

द्रोण सागर से दयानन्द सम्भल होते हुए मुरादाबाद की ओर चले। गढ़मुक्तेश्वर में वह गंगा के तट पर पहुंचे। यहां उन्होंने अभी तक जो ग्रंथ इकट्ठे किए थे, उनका अध्ययन किया। इनमें से चार ग्रन्थों का उन्होंने विशेष उल्लेख किया है। इनमें से दो ग्रन्थ स्वात्माराम कृत 'हठयोग प्रदीपिका' और 'घेरण्ड संहिता' थे। दो अन्य ग्रंथों की शिनाख्त कर पाना कठिन है; दयानन्द को गूढ़ शरीर विज्ञान, नाड़ी और रहस्य बड़ा दुरूह प्रतीत हुआ। जैसा कि दयानन्द रचित बाद के ग्रंथों से पता चलता है, उनकी बुद्धि तर्कसंगत, यथार्थ और विवेकसम्मत बातों को स्वीकार करती थी और उनके लिए प्रतीकात्मक और मिथकीय विवरणों को स्वीकार कर पाना कठिन होता था। वस्तुनिष्ठ विवेकसंगति पर आधारित चिन्तन ही अंततः उनकी विशेषता बना। एक बार उन्होंने एक शव को नदी में से निकालने के बाद उसे चाकू से काट कर शरीर रचना की जांच की। दयानन्द लिखते हैं कि मैंने हृदय का बहुत ध्यानपूर्वक अध्ययन किया, और ग्रंथों में मैंने हृदय के बारे में जो कुछ पढ़ा था, उसके साथ उसका मिलान किया। मैं इस निश्चय पर पहुंचा कि ग्रंथों में जो कुछ लिखा था, उसमें और शव की शरीर रचना में कोई साम्य नहीं था। तब मैंने ग्रंथों को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डाला और उन टुकड़ों को शव के साथ ही नदी में बहा दिया। यह घटना दयानन्द के ज्ञान और अनुसंधान के प्रति उनकी गहरी निष्ठा का प्रमाण है। किसी संन्यासी के लिए जीवित मनुष्यों के साथ शरीर सम्पर्क दोष माना जाता है और किसी शव का स्पर्श तो वह किसी भी कीमत पर नहीं कर सकता। किंतु दयानन्द ने स्वेच्छा से शव का स्पर्श ही नहीं, उसकी चीरफाड़ करके उसका अध्ययन तक किया था जिससे पता चलता है कि सच्चा ज्ञान कोरी भावुकता से कहीं अधिक बड़ी चीज है। सच्चे वैज्ञानिक तथा चिंतक ऐसे ही होते हैं।

गंगा के तट पर कुछ समय तक विचरण करने के बाद दयानन्द 1856 में हिमालय की पहाड़ियों से नीचे आए और 1860 के अंत में वह मथुरा पहुंचे, जहां उन्होंने स्वामी विरजानंद सरस्वती के पास रहकर ज्ञान लाभ किया। दयानन्द की आत्मकथा 1857 के आरम्भ तक आकर रुक जाती है और 1860 तक की उनकी गतिविधियों की हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। इस तरह हम देखते हैं कि 1857 की ऐतिहासिक क्रांति का उसमें कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

अभी तक दयानन्द को एक सच्चे गुरु की तलाश में निराशा ही हाथ लगी थी। 1860 में वह मथुरा पहुंचे जो किसी समय बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध स्थल था। भगवान कृष्ण की जन्मस्थली होने के कारण यह नगर अभी भी हिन्दुओं का सबसे अधिक पवित्र स्थल है। नगर में बीसियों भव्य मंदिर हैं। कहते हैं कि वाराणसी में मृत्यु होना सौभाग्य की बात है, लेकिन मथुरा के बारे में चार विशेषताएं गिनाई जाती हैं: यहां जन्म लेना, यहां रहना, यहां विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करना और यहीं मृत्यु होना, सभी पुण्यकारी हैं। ऐसा था मथुरा नगर जहां नवम्बर 1860 में दयानन्द का आगमन हुआ। इस समय वह 36 वर्ष के थे। यहीं वह अंधे स्वामी विरजानंद के सम्पर्क में आए और ढाई वर्ष तक उनके शिष्य बनकर रहे। विरजानंद सरस्वती से दयानन्द की यह भेंट ही वह महत्वपूर्ण घटना है जिसने दयानन्द को एक महान आत्मा और भारत का भावी निर्माता बना दिया। विरजानंद उस क्षेत्र के रहनेवाले थे जो युगों से बड़े-बड़े साधु महात्माओं की जन्मस्थली रहा है, और जिसने ऐसे-ऐसे चिन्तक और शूरवीर नायक पैदा किए हैं जिनके नाम से आर्यावर्त का इतिहास गौरवान्वित है। वह पंजाब में करतारपुर के निकट गंगापुर गांव में पैदा हुए थे जो व्यास नदी के किनारे पड़ता है। विरजानंद के जन्म से काफी समय पूर्व सिख धर्म के संस्थापक, गुरु नानक देव ने अपने जीवन के अंतिम कुछ वर्ष करतारपुर में ही बिताए थे।

विरजानंद का जन्म 1797 में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उस समय पंजाब पर महाराजा रणजीतसिंह का शासन था। उनके पिता का नाम था नारायणदत्त। पांच-छः वर्ष की आयु में ही चेचक निकलने से विरजानंद अंधे हो गए। दूसरी विपत्ति उन पर ग्यारह वर्ष की उम्र में तब आई जब उनके पिता की मृत्यु हो गई। अनाथ विरजानंद ने अपने बड़े भाई की पत्नी के तीखे तानों और कटूक्तियों से परेशान होकर घर का त्याग करके हरिद्वार की राह पकड़ी। कई जगह रुकते-रुकाते अंततः पन्द्रह वर्ष की आयु में वह ऋषिकेश पहुंचे। यहां उन्होंने ध्यान साधना आरम्भ की। उन्होंने ज्ञानार्जन करते हुए और ज्ञानार्थियों को शिक्षा देते हुए काशी, गया, सोरों, भरतपुर, मुरसान और अन्य स्थानों की यात्रा की। शीघ्र ही वह वेद और शास्त्रों में

पारंगत हो गए। संस्कृत व्याकरण पर उनका अप्रतिम अधिकार था। अंततः वह मथुरा में आकर बस गए। यहां उन्होंने व्याकरण की एक पाठशाला आरम्भ की। स्वामी विरजानंद की मृत्यु 1868 में 71 वर्ष की अवस्था में उदर-शूल रोग से हुई। उनकी मृत्यु का समाचार मिलने पर दयानन्द ने कहा था कि आज व्याकरण का मार्तण्ड अस्त हो गया है।

विरजानंद पाणिनि की व्याकरण के प्रकांड विद्वान थे। वह प्राचीन शास्त्रों में अगाध निष्ठा रखते थे और सभी आधुनिक संस्कृत ग्रंथों को बिलकुल व्यर्थ मानते थे। उन्होंने वेदों, शास्त्रों, प्राचीन ऋषियों और संतों द्वारा रचित ग्रंथों का गहरा अध्ययन किया था। मूर्तिपूजा, अंधविश्वास, उस समय हिन्दुओं में प्रचलित दकियानूसी प्रथाओं और शिक्षा की पारम्परिक प्रणाली के वह घोर विरोधी थे। उनके अंदर एक सच्चे मूर्तिभंजक की कट्टरता थी। जबर्दस्त लगन और एकाग्र अध्ययन-मनन के जरिए उन्होंने संस्कृत भाषा और साहित्य का गहन ज्ञान अर्जित किया था। उनके अंदर नीर-क्षीर अलग करने की सहज विवेक बुद्धि थी। अपने आसपास उन्होंने जो कुछ अनुभव किया था, जाना था, जो कुछ अध्ययन किया था, उसका वह सूक्ष्म विश्लेषण करते थे। अतः वह हिन्दू धर्म के प्रचलित स्वरूप और उसकी विचारधारा की सभी कमजोरियों को सहज ही पकड लेते थे। उनमें अदम्य नैतिक साहस था। उन्होंने हिन्दुओं के देवी-देवताओं, पूजा के प्रचलित तरीकों और शिक्षा की परम्परागत प्रणाली पर कठोर और निर्मम प्रहार किए। तिस पर भी उनके चरित्र, उनकी ख्याति और उनकी विद्वत्ता की ऐसी धाक थी कि अंधे होने पर भी उनके पास विद्यार्थियों का तांता लगा रहता था। यह बात दूसरी है कि इनमें से बहुत कम लोग ही उनके पास रहकर पूरी शिक्षा प्राप्त कर पाते थे क्योंकि विरजानंद का स्वभाव बहुत जल्दी क्रोधित हो जाने का था। यही वह महात्मा थे जिनके पास रहकर दयानंद ने अपनी शिक्षा पूर्ण की।

विरजानंद ने दयानन्द को तब तक अपना शिष्य बनाने से इन्कार कर दिया जब तक कि दयानन्द अपनी सारी पुस्तकें यमुना में न फेंक दें। यह अंधा और प्रकांड पंडित पुरुष स्वभाव का बहुत ही चिड़चिड़ा था तथा अक्सर

अपने शिष्यों को बुरी तरह फटकार देता था। एक दिन विरजानंद ने अपनी लाठी का ऐसा प्रहार दयानन्द पर किया कि उसकी चोट का निशान उनके सर पर सदा बना रहा। लेकिन अपनी इन कमजोरियों के बावजूद विरजानंद ने दयानन्द को सबसे अधिक प्रभावित किया। विरजानंद के पास रहकर दयानन्द ने पाणिनि की व्याकरण और पतंजलि द्वारा किया गया उसका भाष्य पढ़ा। कहा जाता है कि उन्होंने वेदांत सूत्र आदि का भी यहां रहते हुए अध्ययन किया था, किन्तु इन ग्रन्थों के नाम हमें पता नहीं हैं। हरबिलास शारदा के अनुसार यहां दयानन्द ने वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत पर पूरा अधिकार प्राप्त किया। यही ज्ञान था जिसके बल पर उन्होंने वाराणसी और पुणे के पंडितों पर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की। श्री शारदा के अनुसार ''महाभाष्य के बाद दयानन्द ने निरुक्त, निघंटु तथा अन्य ग्रंथों का भी अध्ययन किया जिनका ज्ञान वेदों को समझने के लिए अनिवार्य है। अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त और निघंटु के अध्ययन से दयानन्द को वह कुंजी मिल गई जिसकी सहायता से वेदों में भरे पड़े खजाने का ताला उन्होंने खोल लिया, जो महाभारत के जमाने से बंद पड़ा था।''

अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद दयानन्द वहां से चलने को उद्यत हुए। उस समय की परिपाटी के अनुसार अपने गुरु के सामने आधा सेर लौंग अर्पित करते हुए उन्होंने विदा के लिए निवेदन किया। विरजानंद ने आशीर्वाद देते हुए उनसे उपयुक्त दक्षिणा देने को कहा तो दयानंद ने उत्तर दिया कि उनके पास गुरु को देने योग्य कोई वस्तु नहीं है। विरजानंद ने फौरन कहा: ''क्या मैं तुमसे कोई ऐसी वस्तु मांगूंगा जो तुम्हारे पास न हो?'' यह मीठी झिड़की खाकर दयानन्द ने कहा: ''गुरुवर! आपके विचार से मेरे पास देने योग्य जो कुछ होगा उसे मैं आपके चरणों में अर्पित कर सकता हूं।'' विरजानन्द ने इस पर कहा—''वत्स, तुम्हारे पास सच्चा ज्ञान है। मुझे दक्षिणा ही देनी है तो इस ज्ञान को अपनी मातृभूमि को दो। बहुत समय से भारतवर्ष में वेदों की शिक्षा बंद पड़ी है। जाओ और लोगों को इसकी शिक्षा दो। सच्चे शास्त्र के प्रकाश से मिथ्यावाद द्वारा फैलाए गए अंधकार को दूर करो। याद रखो कि साधारण जनों द्वारा रचे गए ग्रंथ भ्रम फैलाने वाले हैं, झूठे हैं और सच्चे परमात्मा और ऋषि-मुनियों को बदनाम करते हैं, किन्तु

प्राचीन ऋषियों द्वारा रचित ग्रंथ इन दोषों से मुक्त हैं। यही वह कसौटी है जिसके जरिए तुम सच्ची प्राचीन शिक्षा की साधारण मनुष्यों द्वारा रचे ग्रंथों से अलग पहचान कर सकोगे।"

दयानन्द ने गुरु का आदेश शिरोधार्य करते हुए उन्हें वचन दिया कि वह उनके द्वारा सौंपे गए कार्य को पूरा करने का अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न करेंगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि विरजानंद के पास रहकर बिताए गए तीन वर्षों ने दयानन्द के जीवन की दिशा ही बदल दी। व्यक्तिगत मोक्ष की तलाश में घूमने वाला अन्वेषक अब सर्वकल्याण की अलख जगाने वाला दयानन्द सरस्वती बन गया था। मथुरा में ही रहते हुए दयानन्द को वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय का घनिष्ठ परिचय प्राप्त हुआ जो अंतिम समय तक दयानन्द की घोर आलोचना के शिकार होने वाले थे। दयानन्द ने इस सम्प्रदाय वालों के विरुद्ध एक पुस्तिका प्रकाशित की। उनके 'सत्यार्थ प्रकाश' में सबसे अधिक आलोचना इसी सम्प्रदाय की है। मई 1863 में उन्होंने गुरु से विदा लेकर अपने अभियान के प्रथम चरण में प्रवेश किया। विरजानंद का सारा जीवन शिक्षा देते हुए बीता। दयानन्द ही एकमात्र वह व्यक्ति थे जो उनकी अपेक्षा के अनुरूप निकले और जिनके साथ उनका हार्दिक तारतम्य बैठा था। दयानन्द ने अपने अंधे गुरु की महत्वाकांक्षा को साकार करने का बीड़ा उठाया।

एक महापुरुष का उदय

अब स्वामी दयानन्द में एक महापुरुष के सारे गुण आ गए थे। वह प्रकांड विद्वान और तर्कशास्त्र में निष्णात हो चुके थे। उनकी ख्याति भारत के कोने-कोने में पहुंचने लगी। विद्वत्त समाज और विद्वानों के बीच वह बहुत जल्दी प्रतिष्ठित हो गए। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, सभी वर्गों के लोग उनके प्रवचन सुनने के लिए आने लगे। वह उन्हें सुनते, उनके भव्य व्यक्तित्व को श्रद्धा और सराहना के भाव से निहारते और मुग्ध हो जाते। कुछ शास्त्रार्थ सभाओं में अध्यक्ष का आसन उच्च अंग्रेज अधिकारी ग्रहण करतें थे।

अपने सार्वजनिक जीवन के प्रथम चरण (1863-75) में उन्होंने प्रतिष्ठा, यश और ख्याति अर्जित की। यह समय उन्होंने स्वयं को उस महान कार्य के लिए तैयार करने में बिताया जो उन्होंने अपने लिए निर्धारित किया था। उन्होंने जो कुछ पढ़ा था, उसका पुनर्विवेचन किया, उसे पचाया और पुनर्व्याख्या की। उन्होंने पश्चिमोत्तर प्रान्त के कुछ प्रमुख नगरों की यात्रा की, किन्तु अपना अधिकांश समय गंगा के तट और समीपवर्ती क्षेत्रों में व्यतीत किया। सभी जगह उनके सीधे-सादे विचारों, उनकें निर्भीक वचनों, हिन्दू धर्म की उनकी अनोखी व्याख्या और पांडित्य ने हजारों लोगों को उनकी ओर आकृष्ट किया। व्याकरण और वेदों पर उनका विशेष अधिकार था। अगस्त 1863 से मार्च 1867 तक के चार वर्ष उनके विचारों और उनके दृष्टिकोण के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थे। स्वामी विरजानंद से उन्हें श्रेष्ठ व्याकरण ज्ञान, ऋषियों और सामान्य मनुष्यों द्वारा रचित ग्रंथों का अंतर-ज्ञान और अपने अद्वैत सिद्धान्तों का पुष्टीकरण मिला था। मथुरा में हिन्दू धर्म की दुर्दशा को निकट से देखने का उन्हें अवसर मिला था। यह ध्यान में रखने की बात है कि जो हिन्दू धर्म उन्होंने यहां देखा था, वह वैष्णव धर्म था। यही वे आधार थे जिन पर दयानन्द ने अपने विचारों को विकसित

किया, लेकिन इन आधारों को उन्हें कसौटी में कसना था क्योंकि अभी भी वे काफी अस्पष्ट थे। कुम्भ मेले में अपने गुरु को छोड़ने के बाद से दयानन्द ने मथुरा, ग्वालियर और अजमेर, इन तीन स्थानों के त्रिभुज में ही भ्रमण किया था और केन्द्र-बिन्दु अर्थात अपने गुरु से वह तीन-चार सौ मील से अधिक दूर नहीं गए। वह एक-एक स्थान पर लम्बे समय तक ठहरे। डेढ़ वर्ष आगरा में, सात महीने ग्वालियर में, छह महीने करौली और जयपुर में, तीन महीने पुष्कर और अजमेर में, अगले चार महीने जयपुर में और फिर दो महीने आगरा में। 1866 में अंतिम बार विरजानन्द से मिलने के साथ ही इस चरण का अंत होता है। इसके बाद उन्होंने हरिद्वार, फर्रुखाबाद, कानपुर, प्रयाग, रामनगर और उत्तर भारत के अन्य नगरों का भ्रमण किया जिनमें कलकत्ता, जबलपुर आदि शामिल थे। अंततः 1874 में वह बम्बई पहुंचे जहां उन्होंने 10 अप्रैल 1875 में आर्य समाज की स्थापना की जिसने भारत के स्वाधीनता आंदोलन में आगे चलकर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

लोकोपदेशक के रूप में दयानन्द ने वेदांत, योग, भगवद्गीता और मनुस्मृति की शिक्षा दी। उन्होंने लोगों को अध्ययन और कर्मकांड जैसे विषयों के बारे में बताया। वह मूर्तिपूजा और वैष्णव मत के विरुद्ध खुले आम अपने विचार रखते थे और शिक्षा के अंतिम भाग के रूप में शैव मत का प्रतिपादन करते हुए रुद्राक्ष का वितरण करते थे। उन्होंने छोटे-बड़े, छात्रों और पंडितों, धर्माचार्यों और शंकालुओं के साथ चर्चाएं कीं। साधु और पंडित, महंतों और ईसाई मिशनरियों के साथ उन्होंने सार्वजनिक शास्त्रार्थ किए। धार्मिक विषयों पर उन्होंने अंग्रेज अधिकारियों के साथ भी बात की। दयानन्द की शिक्षाओं से जिन लोगों के निहित स्वार्थों को आघात पहुंच रहा था, उन्होंने उन्हें गालियां और धमकियां दीं। एकाधिक बार उन्होंने उनकी हत्या का षड्यंत्र भी रचा। पांच वर्ष की अवधि में उनकी हत्या के कम-से-कम चार प्रयत्न किए गए, लेकिन दयानन्द इन घटनाओं से विचलित नहीं हुए। उन्होंने शिक्षा और उपदेश देने का अपना कार्यक्रम जारी रखा और उन्हें प्रबल जन-समर्थन प्राप्त होता गया। उनके रहन-सहन, उनकी जीवन-पद्धति और व्यक्तित्व में एक अजीब आकर्षण-शक्ति थी, जिसके बल पर अनेक लोग उनके मित्र, संरक्षक,

समर्थक और प्रशंसक बन गए। अब दयानन्द के एक नए रूप का उद्घाटन हो रहा था। वह संन्यासी, जो भीड़-भाड़ और प्रचार से बचता था, प्रकृति और अपने अंदर के एकांत को खोजता था, वही अब एक उत्साही उपदेशक और महत्वपूर्ण लोकनेता बनता जा रहा था। मोक्ष की तलाश करने वाले इस एकांतप्रेमी व्यक्ति को विरजानंद और मथुरा प्रवास ने बिलकुल बदल दिया था और उसके भीतर एक नई उद्दाम शक्ति प्रवाहित कर दी थी।

दयानन्द के लिए यह समय और अधिक अध्ययन तथा चिन्तन-मनन करने का था। वह एक ही स्थान पर लम्बे समय तक ठहरे और विरजानंद के साथ अपना सम्पर्क उन्होंने निरंतर कायम रखा। सुधार-कार्य हाथ में लेने का आग्रह किए जाने पर उन्होंने उत्तर दिया: "मेरे लिए यह समय अभी मनन-चिन्तन का है।"

मथुरा से चलकर वह आगरा आए और वहां 1862 के अन्त से 1864 तक अर्थात् दो वर्ष ठहरे। यहां उन्होंने लोगों को योग की शिक्षा दी और वेदों तथा शास्त्रों का अध्ययन किया। उन्होंने मूर्तिपूजा तथा उन अनेक प्रथाओं के विरुद्ध भी प्रचार किया जो उनकी राय में विज्ञान सम्मत नहीं थीं। अगरा में दयानन्द लाला गुल्लामल अग्रवाल के बगीचे में ठहरे और एकांत सेवन करते हुए अध्ययन-मनन पर ही विशेष जोर देते रहे। एक दिन कैलाश पर्वत नामक एक धनी संन्यासी आकर उसी बगीचे में ठहरे और वहीं उन्होंने कथा-प्रवचन आरम्भ किया। कथा कहते-कहते वह एक कठिन श्लोक में आकर अटक गए और श्रोताओं को उसका अर्थ समझाने में असमर्थ रहे। तब श्रोताओं के अनुरोध पर स्वामी दयानन्द ने उस श्लोक की व्याख्या की जो इतनी सुंदर और विद्वत्तापूर्ण थी कि लोग बहुत प्रभावित हुए। कैलाश पर्वत ने भी उनकी श्रेष्ठ विद्वत्ता की खूब प्रशंसा की। उन्होंने श्रोताओं से कहा कि जो चाहें वे दयानन्द के पास शिक्षा प्राप्त करने आ सकते हैं। बहुत से लोग दयानन्द के पास आने लगे। आगरा में ही दयानन्द ने संध्या के बारे में अपनी एक पुस्तक प्रकाशित की जिससे लोग इतने प्रसन्न हुए कि रूपलाल नामक एक व्यक्ति ने उसकी तीस हजार प्रतियां छपवाकर मुफ्त वितरित कीं। दयानन्द के मन में जो भी शंकाएं उठती थीं, यहां रहते हुए वह

अपने गुरु विरजानंद को लिखकर भेज देते थे और उनका समाधान प्राप्त करते थे। आगरा से वह ग्वालियर गए, जहां उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय की भर्त्सना की। ग्वालियर में रहते हुए भी वह अपने गुरु से पत्र-व्यवहार करते रहे। यहां उन्हें ग्वालियर महाराज ने सात दिन चलने वाली भागवत कथा में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया। इस मौके पर दयानन्द ने भागवत पुराण की घोर आलोचना की जिससे महाराजा बहुत अप्रसन्न हुए। दुर्भाग्य से राजपरिवार में कथा-समापन के कुछ दिनों बाद ही कुछ मौतें हो गईं जिससे भयभीत होकर स्वामी दयानन्द के विरुद्ध कोई कार्रवाई करने का विचार महाराजा ने त्याग दिया। वह अब एक प्रकार से धर्म गुरु माने जाने लगे थे।

ग्वालियर से दयानन्द करौली गए और वहां से जयपुर आए। सदा की भांति यहां भी उन्होंने प्रवचन किए और धर्म-चर्चाएं कीं। 23 मार्च 1866 को वह अजमेर पहुंचे जहां उन्होंने मूर्तिपूजा के विरुद्ध धुआंधार प्रचार किया। उनके निर्भीक विचार और हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों की सरल व्याख्या सुनने के लिए अपार भीड़ जुट जाती थी। उन्होंने अपने विरोधियों को चुनौती देकर उनसे खुला शास्त्रार्थ किया। इनमें से एक ईसाई धर्म प्रचारक रेवरेंड राबिंसन था जो शास्त्रार्थ के बाद उनका प्रशंसक बन गया। उसने कहा: ''स्वामीजी वेदों के प्रकांड विद्वान् हैं। मैंने अपने जीवन में ऐसा विद्वान् पुरुष नहीं देखा। संसार में ऐसे व्यक्ति विरल हैं और इनकी संगति कल्याणकारी है।'' स्वामी दयानन्द ने अजमेर के कमिश्नर श्री डेविडसन से भेंट की और क़ानून बनाकर उनसे सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने का अनुरोध किया। कमिश्नर ने उत्तर दिया कि सरकार धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने के पक्ष में नहीं है। स्वामी दयानन्द ने गवर्नर-जनरल के एजेंट को एक पत्र लिखकर गो-हत्या बंद कराने का अनुरोध करते हुए विस्तार से लिखा कि इससे सरकार और जनता को किस प्रकार कितना लाभ पहुंचेगा। एजेंट ने सूचित किया कि वह इस मामले में कुछ करने में असमर्थ है। स्वामीजी ने रेवरेंड ग्रे और रेवरेंड स्कूलब्रेड के साथ आत्मा, ईश्वर, प्रकृति के नियमों और वेदों पर चर्चाएं कीं। यह चर्चाएं पूरे तीन दिन तक चलीं।

स्वामीजी का नियम था कि वह किसी स्त्री को अपने सामने नहीं आने देते थे। अजमेर में उनकी ख्याति सुनकर बड़ी संख्या में स्त्रियां उनका

प्रवचन सुनने पहुंची, किंतु उन्हें निराश होकर लौटना पड़ा। स्वामीजी ने उनको कहलवा दिया कि वह स्त्रियों को उपदेश नहीं देते और यदि उन्हें उनके उपदेश चाहिएं तो वे अपने पतियों को उनके पास भेजें।

आगरा में नवम्बर 1866 में एक शानदार दरबार लगाया गया। स्वामीजी ने सत्य की स्थापना के लिए इसे एक उपयुक्त अवसर मानते हुए इसमें भाग लेने का निश्चय किया और अपने पांच शिष्यों के साथ वहां पहुंचे। दरबार का बड़ा शानदार आयोजन किया गया था जिसमें सभी देशी नरेश अपने लाव-लश्कर के साथ उपस्थित थे। स्वामीजी ने अपने प्रवचन आरम्भ किए। यहां उन्होंने भागवत की अनुचित शिक्षाओं पर प्रकाश डालने वाली संस्कृत में अपनी आठ पेज की पुस्तिका छपवा कर दरबार में आए लोगों के बीच वितरित की। संस्कृत जानने वालों को पढ़कर बहुत आनंद मिला।

इसी बीच जयपुर के महाराजा का निमंत्रण पाकर वह पहले अपने गुरु से मिलने के लिए मथुरा गए। उन्होंने गुरु के चरणों में दो स्वर्ण मोहरें और अपनी लिखी भागवत की टीका की प्रति अर्पित की। यह भेंट बहुत सुखद रही। गुरु से यह आज्ञा प्राप्त करके कि वह आगामी हरिद्वार मेले में प्रचार कार्य करें, और अपने मिशन में सफल होने का उनका हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त कर स्वामीजी वहां से विदा हुए। गुरु-शिष्य का यह अंतिम मिलन था।

हरिद्वार का कुम्भ मेला शुरू होने वाला था और दयानन्द को लगा कि अपने सिद्धान्तों के प्रचार का यह एक उत्तम अवसर होगा। अतः वह अपने कुछ शिष्यों के साथ हरिद्वार पहुंचे और वहां नगर से करीब तीन मील दूर तक एक अस्थाई कुटिया में डेरा डाला। वह प्रचारक और सुधारक ही नहीं थे बल्कि धुरंधर शास्त्रार्थकर्ता भी थे। धीरे-धीरे नगर में भिन्न-भिन्न धर्म और सम्प्रदाय के लोगों का हजारों की संख्या में आगमन होने लगा। स्वामी दयानन्द मेला आरम्भ होने से एक महीना पहले ही वहां पहुंच गए थे और सब बातों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने का उन्हें पर्याप्त समय मिल गया था। यहां उन्होंने हिन्दू धर्म के पौराणिक पक्ष की बुराइयों को देखा। मेले मे धर्म के काले और अंधेरे पक्ष का नग्न प्रदर्शन बड़े शान-शौकत के साथ होते

हुए उन्हें दिखाई पड़ा। धर्मान्ध जनता के साथ इतने बड़े पैमाने पर धोखा-धड़ी, इतनी मूर्ति-पूजा, धर्म का इतना पतन उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। प्रतिदिन ऐसी चीजें देखकर उनका मन वितृष्णा से भर उठा।

हरिद्वार में दयानन्द ने पहली बार अनुभव किया कि उनके सामने जो काम पड़ा है वह कितना भारी है। फिर भी निर्भीक होकर उन्होंने पाखंड के विरुद्ध आवाज उठाते हुए अपनी कुटिया पर 'पाखंड खंडिनी पताका' फहरा दी। हरिद्वार रूढ़िवादी हिन्दू धर्म का गढ़ था। इस गढ़ में मूर्तिपूजा, श्रद्धालु तीर्थयात्रियों के साथ की जाने वाली धोखाधड़ी, पौराणिक विश्वासों तथा झूठे सम्प्रदायों की ऐसी घनघोर आलोचना इससे पूर्व कभी किसी ने न देखी थी और न सुनी थी। एक हलचल-सी मच गई और इस विशाल मेले में दयानन्द चर्चा का विषय बन गए। बड़े-छोटे, गरीब-अमीर, सभी बड़ी संख्या में उनके प्रवचन सुनने आने लगे। स्वामी दयानन्द के प्रवचनों से अनेक लोगों के विश्वास डगमगाने लगते थे और कुछ दुविधाग्रस्त हो जाते थे। कुछ लोगों ने उन्हें नास्तिक कहकर उनकी आलोचना करनी आरम्भ कर दी। दयानन्द के प्रबल आघातों से पंडा-वर्ग के निहित स्वार्थों पर बुरा प्रभाव पड़ने की आशंका उत्पन्न हो गई। अतः उनके विरुद्ध प्रचार किया गया, उन्हें फुसलाया गया और कुछ लोगों ने तो उन्हें धमकियां भी दीं, लेकिन स्वामी दयानन्द ने अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहकर अपने प्रवचन जारी रखे।

हरिद्वार से लौटकर दयानन्द फर्रुखाबाद गए। यहां उन्होंने अपने कार्य में सव्यवस्था और नियमितता लाने का निश्चय किया। बहुत सोचने-विचारने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि देश में उत्तम कोटि की शालाओं और गुरुकुलों की स्थापना की बहुत आवश्यकता है। तथा मात्र प्रवचनों और शास्त्रार्थों से ही उनका उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। अतः फर्रुखाबाद में उन्होंने अपने प्रवचनों में इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि समाज के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर लोगों को इसके लिए राजी करें कि वे देश के होनहार बालकों को संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकने हेतु धनादि देकर सहायता करें। लाला पन्नीलाल सेठ नामक एक सज्जन

स्वामीजी की बातों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने नव-निर्मित भवन में एक पाठशाला खुलवा दी। करीब पचास विद्यार्थियों के भोजन आदि की व्यवस्था का भार एक अन्य उदार सज्जन लाला दुर्गाप्रसाद ने उठाना स्वीकार किया। स्वामीजी इन विद्यार्थियों तथा अन्य इच्छुक लोगों को पढ़ाने में स्वयं भी योग देते थे। दूसरी और तीसरी पाठशाला स्वामीजी ने क्रमशः कासगंज और मिर्जापुर में स्थापित की। चौथी और पांचवी पाठशाला छलेसर और वाराणसी में खोलीं।

पाठशालाएं खोलने और संचालित करने का काम करते हुए स्वामीजी ने अपना प्रचार कार्य भी जारी रखा। फर्रुखाबाद में उनका शास्त्रार्थ मेरठ निवासी पंडित श्रीगोपाल के साथ हुआ, जिनका विषय मूर्तिपूजा था। उनका दूसरा शास्त्रार्थ कानपुर के पंडित हलधर के साथ हुआ जिन्हें फर्रुखाबाद के कट्टरपंथी हिन्दुओं ने विशेष रूप से बुलवाया था। इस शास्त्रार्थ में भी स्वामीजी की विजय का डंका बजा, हालांकि कट्टरपंथी हिन्दुओं में इस बात से बड़ा हो-हल्ला मचा।

फर्रुखाबाद से स्वामीजी रामगढ़ पहुंचे। यहां वैष्णव धर्म को मानने वाले चक्रांकित सम्प्रदाय के लोगों ने दस गुंडों को स्वामीजी की हत्या के लिए लगा दिया। लेकिन स्वामीजी स्वयं को बचा पाने में सफल हो गए।

रामगढ़ से स्वामीजी कानपुर पहुंचे। स्थानीय अखबार 'शोला-ए-तूर' ने 27 जुलाई 1869 के अपने अंक में लिखा: "पिछले कुछ दिनों से एक महाराज स्वामी दयानन्द सरस्वती हमारे बीच आए हुए हैं...उनका व्यक्तित्व एक सच्चे संत जैसा है। वह मूर्तिपूजा और मंदिर-निर्माण के घोर विरोधी हैं।...स्वामी भारत के महान पंडितों में से एक हैं, बहुत विद्वान हैं। उनका ज्ञान अगाध है। वेदों, शास्त्रों और तर्कशास्त्र में पारंगत हैं और पंडितों में उनका विशिष्ट स्थान है।...यहां उनका शास्त्रार्थ पंडित हलधर ओझा के साथ हुआ, जिसके लिए कानपुर के ज्वाइंट मजिस्ट्रेट श्री डब्ल्यू थेन को पंच-निर्णायक बनाया गया था। दोनों पक्षों के तर्क सुनने के बाद श्री थेन ने सभा में उपस्थित विद्वत्तसमाज को यह पत्र लिखकर दिया कि मैंने फकीर दयानन्द सरस्वती के पक्ष में निर्णय दिया है और मेरा विश्वास है कि

उनके तर्क वेदों के अनुसार है। मैं समझता हूं कि उनकी विजय हुई है। यदि आप चाहें तो मैं अपने इस निर्णय का कारण दो-चार दिन में बता दूंगा।"

कानपुर से दयानन्द काशी गए और वहां आनंद बाग में डेरा डाला। फर्रुखाबाद और कानपुर में हुए शास्त्रार्थों में उनकी विजय की ख्याति वाराणसी के पंडित समाज तक पहले ही पहुंच चुकी थी। दयानन्द एक गहरे विश्वास के साथ काशी आए थे। अनादि काल से काशी विद्या और रूढ़िवादी धर्म का केन्द्र रही थी। स्वामीजी के जीवनीकार बाबा छज्जू सिंह ने लिखा है: "यूरोप के किसी भी प्राचीन या आधुनिक नगर का, यहां तक कि रोम का भी, धर्म के जिज्ञासुओं और ज्ञानार्थियों के लिए वैसा महत्व नहीं रहा है जैसा कि काशी का है। अपने आरम्भिक काल में काशी वैज्ञानिक मूल्यों की दृष्टि से शिक्षा का महत्वपूर्ण केन्द्र था जहां शुद्धतम धार्मिक भावनाओं का विकास होता था। काशी नगरी ज्ञान के उस वृक्ष के समान थी जो ज्ञानियों और विद्वानों को अपने फल का रसास्वादन करने का निमंत्रण देता था। लेकिन कालांतर में काशी अंधविश्वासों की प्रचारक और आत्मा का नाशक बन गई।" मूर्तिपूजा के समर्थक अन्य बड़े-बड़े विद्वान् अब दयानन्द के सामने आए। स्वामी दयानन्द को लगा कि ऐसे पुराणपंथी लोगों से निपटने और उन पर कड़ा प्रहार करने के लिए जिससे कि वे उभर न सकें तथा यह सिद्ध करने के लिए कि जड़ पदार्थ और पत्थर की पूजा नितांत पतनकारी और मिथ्या है, शास्त्रों और प्राचीन धर्मग्रंथों की शिक्षा के विपरीत है, इसके लिए उनके 'मिथक और चमत्कारों के गढ़' पर ही हमला करना आवश्यक है। इस विचार को लेकर ही दयानन्द काशी आए थे।

दयानन्द के आगमन का समाचार काशी में जंगल की आग की तरह फैल गया और सभी ओर से विद्वान और जिज्ञासु उनके पास बड़ी संख्या में आने लगे। विद्वानों और साधारण जनता, सभी ने उनके प्रवचनों और तर्कों को ध्यानपूर्वक और आश्चर्य के साथ सुना। काशी के महाराजा ने पंडितों की एक सभा बुलाई और दयानन्द के साथ शास्त्रार्थ करने का आह्वान किया।

एक मंगलवार को आनंद बाग में सभा का आयोजन किया गया जिसमें कम-से-कम पचास हजार लोग उपस्थित थे। अपने ढंग की यह शायद

सबसे बड़ी सभा थी। महाराजा के दरबारी पंडित यह सिद्ध नहीं कर सके कि मूर्तिपूजा वेद-सम्मत है। स्वामी विशुद्धानंद और उनके साथियों को दयानन्द के सम्मुख परास्त होना पड़ा। इस प्रकार काशी का यह पहला शास्त्रार्थ समाप्त हुआ। स्वामीजी कुछ और समय तक काशी में रहे। वह डंके की चोट पर मूर्तिपूजा का विरोध और सच्चे धर्म का प्रवचन करते हुए तीन महीने तक काशी में और रुके रहे। काशी के इस शास्त्रार्थ को इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण घटना कहा जा सकता है क्योंकि इसकी चर्चा सभी जगह हुई और इससे चारों ओर सनसनी-सी फैल गई। वाराणसी के अत्यंत प्रसिद्ध पंडित भी उनके ज्ञान और पांडित्य का मुकाबला नहीं कर सके थे और अपनी लज्जा को धोने के लिए उन्होंने जिन गलत और शर्मनाक तरीकों का सहारा लिया, उसकी ओर भारत के सभी भागों के अखबारों का ध्यान गया था और उन्होंने उस पर खुलकर टिप्पणी भी की थी। उक्त शास्त्रार्थ के विषय में 17 जनवरी 1870 के अपने अंक में 'हिन्दू पैट्रियाट' ने लिखा:

''हिन्दू मूर्तिपूजा और धर्मान्धता के गढ़ को जिसे हिन्दू मिथकों के अनुसार भूचाल भी नहीं हिला सकता, उसकी जड़ों को गुजरात के एक संत ने हिला कर रख दिया है। इस संत का नाम है दयानन्द सरस्वती। वह हिन्दू मूर्तिपूजा पद्धति का अंत करने के घोषित उद्देश्य को लेकर आए हैं। वह केवल वेदों को ही प्रामाणिक ग्रंथ मानते हैं और उनका कथन है कि पुराण कुछ स्वार्थी लोगों द्वारा अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए बाद में रचे गए। वह कहते हैं कि वेदों में मूर्तिपूजा का कोई विधान नहीं है और वाराणसी के पंडितों को उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए ललकारा है। दयानन्द और पंडितों के बीच लम्बा शास्त्रार्थ हुआ जिसमें पंडितों को मुंह की खानी पड़ी।''

वाराणसी के 'द क्रिश्चियन इंटेलिजेंसर' ने लिखा:

''अभी हाल ही में पूरे बनारस में हलचल मचा देने वाले जिस सुधारक की ख्याति चारों ओर फैल गई है, उसका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है। वह बहुत अच्छे तार्किक हैं और विवाद में पूरी ईमानदारी से काम लेते हैं। एक सक्रिय व्यक्तित्व के धनी इस व्यक्ति ने अपने विश्वासों को अपने तक ही सीमित न रखते हुए अपने देशवासियों तक पहुंचाने और पूरे हिन्दू समाज

को सुधारने का संकल्प किया है।.... (सभा में) स्वामीजी ने कहा कि वेदों में मूर्तिपूजा का प्रतिपादन नहीं किया गया है, और पंडित लोग उस समय अथवा बाद में भी वेदों में एक भी ऐसा उद्धरण प्रस्तुत नहीं कर सके जो स्वामीजी की इस बात का खंडन कर सके।...."

इलाहाबाद में होने वाले आगामी कुम्भ का समाचार सुनते ही स्वामीजी वहां के लिए रवाना हुए और वहां पहुंच कर उन्होंने गंगा तट पर खुले में अपना डेरा डाला। यहां उन्होंने मूर्तिपूजा, तिलक और कंठी की खिल्ली उड़ाते हुए उनकी धज्जियां उड़ाईं। उनको सुनने के लिए बहुत भीड़ जुटती थी और बहुत से लोगों के विचारों में उनके प्रचार से बदलाव आया। पंडितों में उनकी कटु आलोचना से बहुत रोष फैला और उनमें से कुछ लोगों ने मूर्तिपूजा पर एक शास्त्रार्थ कराने का भी प्रयत्न किया लेकिन वह सफल नहीं हुआ।

एक महीने इलाहाबाद में ठहर कर दयानन्द मिर्जापुर चले गए और वहां करीब ढाई महीने रुके। उनके प्रवचनों का यहां भी बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

मई 1870 में स्वामी दयानन्द वाराणसी लौटे और वहां लाला माधोदास के बगीचे में रहते हुए नव-वेदांत की कमियों पर प्रकाश डालते हुए नित्य प्रवचन करने लगे। उन्होंने पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए बार-बार ललकारा लेकिन किसी ने उनकी चुनौती स्वीकार करने का साहस नहीं किया। स्वामीजी के वाराणसी में रहने के दौरान उनसे मिलने के लिए भरतपुर और रीवां के राजा तथा अन्य अनेक बड़े-बड़े लोग आए।

पूरे एक वर्ष तक गंगा के किनारे-किनारे भ्रमण करते हुए दयानन्द मार्च 1872 में फिर काशी पहुंचे, जहां अंधविश्वासों का खंडन और वेदों की महिमा का प्रचार करते हुए कुछ दिनों बाद वह बंगाल के लिए रवाना हुए। डुमरांव होते हुए वह सितम्बर 1872 में पटना पहुंचे जहां एक महीने के अपने प्रवास के दौरान मूर्तिपूजा तथा अन्य हिन्दू प्रथाओं पर चर्चा करने के बाद वह मुंगेर पहुंचे। यहां उन्होंने पन्द्रह दिनों तक अनेक विषयों पर प्रवचन किए। 20 अक्तूबर 1872 को वह मुंगेर से भागलपुर पहुंचे। यहां उनकी

अनेक ब्राह्मण और ईसाई विद्वानों से चर्चाएं हुईं। एक दिन स्वामीजी का उपदेश सुनते हुए एक बंगाली ईसाई सज्जन रो पड़े और कहने लगे : ''यदि आज से बीस वर्ष पहले मेरी आप जैसे किसी व्यक्ति से भेंट हुई होती, जो मेरी शंकाओं का समाधान कर देता तो मैं अपने भाइयों और अपने पूर्वजों के धर्म से कभी अलग नहीं हुआ होता। उन दिनों मैं अनेक पंडितों के पास अपनी शंकाओं को लेकर गया लेकिन उनमें से कोई भी व्यक्ति मेरी शंकाओं का समाधान नहीं कर सका।'' बर्दवान के महाराजा भी स्वामीजी का प्रवचन सुनने आए और उनकी उपस्थिति में 'अवतारवाद' के विषय पर स्वामीजी की ईसाई पादरियों के साथ चर्चा हुई। ऐसा समझा जाता है कि महाराजा का रुझान ईसाई धर्म की ओर हो गया था, किन्तु उन्होंने इस चर्चा को मौन रहते हुए सुना और बाद में विश्राम के लिए चले गए। उन्होंने स्वामीजी से अपने राजमहल में रहने का अनुरोध किया, किन्तु स्वामीजी ने क्षमा मांगते हुए कहा कि वह एकांत पसंद करते हैं। स्थानीय हाईस्कूल के बंगाली हैडमास्टर ने अपने बीस छात्रों के साथ स्वामीजी का उपदेश स्वीकार कर लिया।

भागलपुर में दो महीने रुकने के बाद स्वामीजी 15 दिसम्बर 1872 को कलकत्ता के लिए रवाना हुए। उनके आगमन का समाचार सुनते ही सभी धर्म और सम्प्रदायों के लोग बड़ी संख्या में उनके पास आने लगे। 'इंडियन मिरर' ने लिखा कि स्वामीजी एक श्रेष्ठ कोटि के मूर्तिभंजक हैं, ऐसे अप्रतिम विद्वान हैं, जिनके समक्ष वाराणसी के पंडित ठहर नहीं सके। वह एक ऐसे शिक्षक हैं जिन्होंने अपनी उपलब्धियों से उत्तर भारत में ख्याति प्राप्त की है। दयानन्द ने कलकत्ता में प्रवचन देते, धर्म चर्चा करते और शिक्षा देते हुए चार महीने व्यतीत किए।

ब्रह्म समाजियों के साथ उनकी चर्चाएं इतनी प्रभावशाली रहीं कि छोटे-बड़े सभी उनसे मिलने के लिए उत्सुक रहते थे। एक बंगला अखबार के सम्पादक ने लिखा : ''उनकी वक्तृता शक्ति, तर्क कौशल और शास्त्रों के उनके ज्ञान ने सबको अचम्भे में डाल दिया। सच्ची जिज्ञासा लेकर बड़ी संख्या में लोग उनके पास आते हैं और अपनी शंकाओं का संतोषजनक समाधान प्राप्त करके लौटते हैं। उन्होंने इससे पूर्व अंग्रेजी न जानने वाला

ऐसा कोई भारतीय नहीं देखा था जो धर्म और समाज के विषय में इतनी निष्पक्ष राय रखता हो।''

कलकत्ता में उनसे मिलने आने वाले महत्वपूर्ण व्यक्तियों में पंडित महेशचन्द्र न्याय रत्न, पंडित तारानाथ तर्क वाचस्पति, बाबू केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर और राजा सौरीन्द्र मोहन ठाकुर भी थे। स्वामी दयानन्द केशवचन्द्र सेन से मिलने को बहुत उत्सुक थे। केशवचन्द्र सेन और उनके ब्रह्म समाज का दयानन्द पर बहुत प्रभाव पड़ा। केशवचन्द्र तथा अन्य ब्रह्म समाजी नेताओं को अपने भाषण बंगाली में देते देख कर उनके कहने से उन्होंने भी संस्कृत छोड़कर हिन्दी में अपने प्रवचन देने आरम्भ किए।

केशवचन्द्र सेन और स्वामीजी की प्रथम भेंट बहुत दिलचस्प थी। केशवचन्द्र सेन ने अपना परिचय दिए बिना उनसे भेंट की और बातचीत शुरू हुई। चलते समय केशव चन्द्र सेन ने स्वामीजी से पूछा:

''आपने केशव को देखा है?''

''हां।''

''लेकिन वह तो अभी तक यहां आए नहीं।''

''तथापि मैंने उन्हें देखा है।''

''लेकिन ऐसा कैसे हो सकता है, जबकि वह कलकत्ता में हैं ही नहीं?''

''मैं उनसे अभी-अभी मिला हूं। आप स्वयं ही केशव हैं।''

''आपने मुझे कैसे पहचाना?''

''आपने जैसी बातें की हैं, वैसी बातें केशव के सिवा कोई दूसरा नहीं कर सकता था।''

ये दोनों सुधारक अक्सर मिलते रहे और आपस में चर्चा करते रहे। दयानन्द से अपने मतभेदों के बावजूद केशवचन्द्र के मन में उनके प्रति सच्चा आदर था।

कलकत्ता में 23 फरवरी 1873 को स्वामी दयानन्द ने बाबू गोराचंद दत्त के घर पर एक प्रवचन किया जिसमें उन्होंने सिद्ध किया कि वेदों में मूर्तिपूजा नहीं है। 2 मार्च 1873 को उन्होंने वराह नगर, बोर्नियों कम्पनी के हाल में 'हवन' की महत्ता पर प्रवचन किया और इसके सात दिन बाद वराह नगर रात्रि पाठशाला में उन्होंने प्रमुख लोगों की एक बड़ी सभा में 'वैदिक दर्शन' पर भाषण किया। इसके बाद उन्होंने दो-तीन सभाओं में प्रवचन किया जिसमें बड़ी संख्या में लोग उपस्थित थे। हुगली में दयानन्द ने कई प्रवचन किए और पंडित ताराचरण के साथ धर्म की चर्चा की। हर जगह दयानन्द ने प्राचीन आर्य शास्त्रों के अध्ययन का महत्व बताया और प्रसन्न कुमार ठाकुर के संस्कृत कालेज में अपने प्रवचन में उन्होंने वेदों के बारे में इतनी सुंदर बातें बताईं कि कालेज के अधिकारी कालेज के पाठ्यक्रम में वेदाध्ययन को शामिल करने में सहमत हो गए।

कलकत्ता में स्वामी दयानन्द ने जो प्रवचन किए थे, उनको पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करने का प्रस्ताव था और केशवचन्द्र सेन ने भी इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया था, लेकिन पुस्तिका छपने से पूर्व ही स्वामीजी नगर से चल दिए।

उत्तर भारत में नगर-नगर में प्रचार करते हुए दयानन्द की कीर्ति और प्रभाव चारों ओर फैल गया था। कलकत्ता के बाद उन्होंने हुगली, भागलपुर, पटना, छपरा, और उत्तर भारत के अन्य नगरों में अपना प्रचार कार्य किया। 1874 में इलाहाबाद के बाद हम उन्हें बम्बई में पाते हैं, जहां उनका सम्बंध प्रार्थना समाज के सदस्यों से हुआ। इस नगर में उन्हें काफी सफलता मिली। 1875 के आरम्भ में वह फिर बम्बई लौटे जहां उन्होंने आर्य समाज की स्थापना कर अपनी योजना को मूर्तरूप दिया। इसकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे। प्रार्थना समाज के सदस्यों ने आशा की थी कि वे दयानन्द के साथ मिलकर कार्य कर सकेंगे, लेकिन उनके मतभेद गहरे थे और ऐसा सम्भव नहीं हो सका

उनके जीवन का दूसरा चरण 1877 से 1883 (अक्तूबर) तक का है। यह समय उन्होंने प्रवचन करते हुए और ग्रंथों की रचना में बिताया। इस

अवधि में उन्होंने लोगों को समस्त देश में आर्य समाज की शाखाएं स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया।

स्वामीजी को पंजाब, संयुक्त प्रांत, राजस्थान और गुजरात में बहुत सफलता मिली। उनकी मृत्यु से पूर्व इन प्रांतों में आर्य समाज की स्थापना हो चुकी थी। उदयपुर के महाराणा सहित हजारों लोगों ने आर्य समाज के आदर्शों को स्वीकार कर लिया था। 1 जनवरी 1877 को दिल्ली में एक शानदार दरबार में वाइसराय लार्ड लिटन ने महारानी विक्टोरिया के भारत की साम्राज्ञी होने की घोषणा की। दयानन्द वहां एक देशी नरेश के मेहमान के रूप में उपस्थित थे। यहीं लाहौर के कुछ हिन्दुओं ने उनसे पंजाब चलने का आग्रह किया। लाहौर में उन्हें अपूर्व सफलता मिली और यहां पर स्थापित आर्य समाज की शाखा ने बम्बई आर्य समाज को भी पीछे छोड़ दिया। अब लाहौर, आर्य समाजी आंदोलन का प्रधान केन्द्र बन गया।

अगले छह वर्ष तक स्वामीजी उत्तर भारत में घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार और आर्य समाज का प्रसार करते रहे। इस काल की दो घटनाएं उल्लेखनीय हैं। पहली घटना का सम्बंध है थियोसोफिकल सोसायटी से, जिसकी स्थापना 1875 में न्यूयार्क में हुई थी। 1878 में इस सोसायटी के संस्थापकों कर्नल आलकाट और मैडम ब्लैवेट्स्की ने दयानन्द को पत्र लिखकर यह सुझाव दिया कि चूंकि सोसायटी और आर्य समाज का ध्येय एक ही है, अतः दोनों संस्थाओं को एक में मिला दिया जाए। दयानन्द ने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। थियोसोफिस्ट नेता जनवरी 1879 में भारत आए, और दोनों संस्थाओं का यह विचित्र संयोग 1881 तक जारी रहा। लेकिन बाद में दोनों संगठन पृथक हो गए। दोनों ही पक्षों के मन इस अवसर पर कटुता और रोष से भरे हुए थे।

दूसरी बात का सम्बंध स्वामीजी की सामान्य नीति से है। वह हिन्दुओं से प्राचीन आर्य धर्म में लौटने का आह्वान कर रहे थे। जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं में इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रति विरोध का भाव जागृत हो रहा था। 1882 में स्वामीजी ने गोरक्षिणी सभा की स्थापना की। जिसका उद्देश्य सरकार को याचिका देकर गो-हत्या बन्द कराने का आग्रह करना था। इस

आंदोलन के व्यापक बनने से पहले ही दयानन्द का निधन हो गया, किन्तु बाद में इस आंदोलन ने बहुत जोर पकड़ लिया। इस सवाल को लेकर सर वेलेन्टाइन किरोल ने दयानन्द पर एक राजनीतिक प्रपंचकारी होने का आरोप लगाया।

स्वामीजी का 30 अक्तूबर 1883 में उनसठ वर्ष की आयु में निधन हो गया। उनकी अंतिम इच्छा थी—मेरी कामना है कि आर्य धर्म के उद्धार के लिए इस देश में मुझ जैसे अनेक प्रचारक उत्पन्न हों। इतना विशाल कार्य एक व्यक्ति सम्पन्न नहीं कर सकता। अंत में मैं परमात्मा से यह कामना करता हूं कि आर्य समाज की स्थापना सभी जगह हो। वेदों और शास्त्रों का सच्चा ज्ञान जन-जन तक पहुंचे ताकि देश प्रगति करे और समृद्ध हो। मुझे विश्वास है कि आप सबकी सहायता से यह सम्भव हो सकेगा।

स्वामी दयानन्द ने न केवल अपने प्रवचनों के माध्यम से बल्कि अनेक ग्रंथों की रचना करके अपना संदेश जन-जन तक पहुंचाया।

उनकी बौद्धिक प्रतिभा ने दो तरह से अपने को व्यक्त किया। वह न केवल महान उपदेशक थे बल्कि एक समर्थ लेखक भी थे। वह अपने पीछे स्वरचित इतना साहित्य छोड़ गए हैं कि आश्चर्य होता है कि उन्हें अपनी अनेक गतिविधियों के मध्य इतना सब लिखने का समय कहां से मिल पाया। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और ज्ञानार्जन का माध्यम संस्कृत था। किन्तु वह भारत को एक ऐसी भाषा देना चाहते थे, जो राष्ट्रभाषा बन सके। संस्कृत जनसाधारण की भाषा नहीं थी, अतः उन्होंने हिन्दी को इसके लिए चुना, जो संस्कृत से ही जन्मी हुई आम जनता की भाषा थी और देश के बहुत बड़े भाग में बोली और समझी जाती थी। जिस समय दयानन्द ने लिखना आरम्भ किया, उस समय हिन्दी भाषा अपने शैशव काल में थी। हिन्दी में धर्म, दर्शन आदि विषयों पर स्तरीय पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं। हिन्दी गद्य शैली अभी विकसित हो रही थी। इस तरह दयानन्द को एक प्रकार से हिन्दी की गद्य शैली का निर्माता कहा जा सकता है। वह संस्कृतनिष्ठ शुद्ध हिन्दी के जन्मदाता थे।

स्वामी दयानन्द ने वैष्णव धर्म की आलोचना करते हुए 1865 में एक पुस्तक की रचना की थी जो उनकी पहली पुस्तक मानी जाएगी। इसे उन्होंने स्वामी विरजानंद को भी दिखाया था। इसके बाद उन्होंने 'संध्या' की विधि का उल्लेख करते हुए एक पुस्तक लिखी जो प्रकाशित भी हुई। वैसे उन्होंने पुस्तक लेखन की ओर कभी गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया।

1873 में दयानन्द अलीगढ़ गए। यहां उन्होंने वहां के डिप्टी कलक्टर राजा जयकृष्णदास सी.आई.ई, के साथ कुछ दिन व्यतीत किए। राजा साहब उनके उपदेशों से प्रभावित हुए और उन्होंने सुझाव दिया कि स्वामीजी अपने प्रवचनों को पुस्तक रूप में छपवाएं। इसके अनुसार स्वामीजी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना का विचार किया। राजा जयकृष्णदास ने सहर्ष इसके प्रकाशन का खर्च उठाना स्वीकार किया और इस कार्य में स्वामीजी की सहायता के लिए एक पंडित चंद्रशेखर को नियुक्त किया। स्वामीजी ने बोल-बोल कर यह पुस्तक लिखवाई और इसे बनारस की स्टार प्रेस ने 1875 में छापा। इस पहले संस्करण के बारे में एक घटना इस प्रकार है—छपाई के समय स्वामीजी ने पाण्डुलिपि नहीं देखी थी और पंडित चंद्रशेखर ने उसमें फेर बदल करके उसमें मृतक श्राद्ध और मांसाहार का अनुमोदन कर दिया। जब यह विसंगति स्वामीजी के ध्यान में लाई गई तो उन्होंने तत्काल उसका प्रतिवाद कर दिया। स्वामी दयानन्द ने पांडुलिपि को संशोधित करके पुनः प्रकाशित कराया।

'सत्यार्थ प्रकाश' प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह दो भागों में विभाजित है और इसमें चौदह अध्याय हैं। पहले अध्याय में 'ओम्' शब्द पर विस्तार से चर्चा की गई है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि व्याकरण के अनुसार अग्नि, वायु, इन्द्र आदि शब्द जहां ब्रह्म के किसी गुण के द्योतक हैं वहीं 'ओम्' शब्द पूर्ण ब्रह्म का द्योतक है। दूसरे अध्याय में वह उपाय बताए गए हैं जिनका पालन करने से माता-पिता स्वस्थ और बलवान सन्तान प्राप्त कर सकते हैं! तीसरे अध्याय में शिक्षा के बारे में सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं और चौथे में विवाह और गृहस्थ आश्रम पर चर्चा की गई है। पांचवें अध्याय में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की चर्चा है। छठा अध्याय शासन के बारे में है और बहुत महत्वपूर्ण है। लोक-कल्याण सुनिश्चित करने के लिए

राजकाज चलाने वाली तीन सभाओं—राज सभा, धर्म सभा और विद्या सभा का इसमें विधान किया गया है। सातवें अध्याय में ईश्वर और वेदों की चर्चा है। इसमें परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि ईश्वर की वेदों में की गई कल्पना ही सर्वथा सम्पूर्ण कल्पना है। तर्क द्वारा इसमें वेदों को सर्वथा पूर्ण और निर्दोष ग्रंथ करार दिया गया है। आठवें अध्याय में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, संरक्षण और संहार की चर्चा है। नवें अध्याय में विद्या-अविद्या, बंधन और मोक्ष पर चर्चा है। विषय के गूढ़ ज्ञान का जैसा परिचय इसमें मिलता है वह अद्‌भुत है। दसवें अध्याय में सदाचरण और दुराचरण पर चर्चा की गई है।

स्वामी दयानन्द ने 'संस्कार विधि' नामक एक तीसरी पुस्तक लिखी जिसमें सभी सोलह संस्कारों, उनकी विधियों और विधायक मंत्रों का उल्लेख है। यह पुस्तक देश में बहुत लोकप्रिय हुई और इसका पालन वे लोग भी करते हैं जो आर्यसमाजी नहीं हैं।

अब चारों ओर से वेदों का भाष्य लिखने की मांग की जा रही थी। वेद बृहत् ग्रंथ हैं और इनके भाष्य को एक ही साथ प्रकाशित करना सम्भव नहीं था। इसके अलावा धन की समस्या भी कम नहीं थी। स्वामीजी ने इस भाष्य को कई खंडों में प्रकाशित करने का विचार किया। इसके पहले भाग को फरवरी 1877 में प्रकाशित होना था। दिल्ली दरबार में जाने से पहले स्वामीजी ने प्रेस से कहा कि वह पहले भाग की प्रकाशित प्रतियां वहां भेजने का प्रबन्ध कर दे। लेकिन ये प्रतियां समय पर दिल्ली नहीं पहुंच सकीं।

चूंकि प्रेस उनकी पुस्तकों को समय से प्रकाशित नहीं कर पा रही थीं इसलिए अब उन्हें अपना एक प्रेस खोलने की आवश्यकता प्रतीत हुई। 12 फरवरी, 1880 को वैदिक यंत्रालय की स्थापना के साथ उनकी यह कल्पना भी शीघ्र ही साकार हो गई। दयानन्द अभी तक प्रचार कार्य में तो व्यस्त थे ही, अब उन्हें पुस्तकें लिखने और प्रेस का प्रबंध करने का काम भी संभालना था।

दयानन्द ने अनेक ग्रंथों की रचना कीं और उनकी बहुमुखी प्रतिभा को

देखते हुए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। बाद में 1925 में स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्म-शताब्दी के अवसर पर उनकी लगभग सभी कृतियों को—जिसमें वेदों का भाष्य और कुछ अन्य पुस्तकें शामिल नहीं है—दो खण्डों में प्रकाशित किया गया। प्रथम खण्ड में 901 पृष्ठ हैं और दूसरे खण्ड में 952 पृष्ठ हैं। स्वामीजी रचित यजुर्वेद के भाष्य की पृष्ठ संख्या 4,229 है और ऋग्वेद के भाष्य की पृष्ठ संख्या 8,155 है। दुर्भाग्य से ऋग्वेद का भाष्य वह पूरा नहीं कर सके।

'वेदांग प्रकाश' पाणिनि व्याकरण पर आधारित एक व्याकरण पुस्तक है। इसके 14 भाग हैं। स्वामीजी ने 'अष्टाध्यायी' का अनुवाद-कार्य भी शुरू किया था लेकिन उसे वह पूरा नहीं कर सके।

'आर्योद्देश्य रत्नमाला' धार्मिक शब्दों का एक पारिभाषिक कोश है। यह एक अत्यंत उपयोगी पुस्तक है।

स्वामी दयानन्द की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति है 'आर्याभिविभिनय' जिसमें वेदों के चुने हुए मंत्र और उनका हिन्दी में भावानुवाद दिया गया है। आर्यसमाजियों के लिए प्रार्थना-पुस्तक के रूप में इसका बहुत महत्व है।

'गोकरुणानिधि' में गो-वंश और बकरियों जैसे पशुओं की रक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।

स्वामी दयानन्द द्वारा लिखी कुछ पुस्तिकाओं के नाम हैं: (1) भागवत पुराण का खंडन करने वाली कृति, पाखंड खंडन, (2) सत्य धर्म विचार, (3) अद्वैत मत खंडन, (4) प्रतिमा पूजन विचार (5) वल्लभाचार्यमत खंडन, जो गुजराती और संस्कृत में है; (6) वेदांत ध्वान्ति निवारण और (7) भ्रान्ति निवारण।

'सत्यार्थ प्रकाश' और 'वेद भाष्य भूमिका' दयानन्द की दो सर्वाधिक लोकप्रिय कृतियां हैं, किन्तु उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति है 'वेद भाष्य जिसकी भूमिका बहुत विस्तृत है और इसमें वेदों के संदेश को आधुनिक संसार के संदर्भ में स्पष्ट किया गया है। यह आवश्यक है कि सत्य के हित में वेदों की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की जाए जिसका लाभ विद्वान और

सामान्य जन समान रूप से कर सकें। आधुनिक युग में दयानन्द वैदिक साहित्य के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता थे। उनका यदि असामयिक निधन न हो गया होता तो आज चारों वेदों का प्रामाणिक अनुवाद और विस्तृत टीकाएं सर्व सुलभ होतीं। किन्तु यह महान व्यक्ति अपना यह प्रिय कार्य पूरा करने से पहले ही संसार से उठ गया।

आर्य समाज की स्थापना

यह पहले ही कहा जा चुका है कि 1867 में एक क्रांतिकारी सुधारक के रूप में दयानन्द ने अपना प्रवचन और प्रचार कार्य हरिद्वार के कुम्भ मेले से आरम्भ किया था। सभी जगह उनको सफलता और ख्याति मिली थी। ब्राह्मणों के गढ़ पर उनके आक्रमण ने ब्राह्मणों के हौसले पस्त कर दिए थे। 1867 से 1875 तक का समय दयानन्द के लिए कठिन संघर्ष का समय था। सभी दिशाओं से उन्हें विरोधों का सामना करना पड़ा था, लेकिन वह लोकमत का समर्थन प्राप्त करने में सफल हुए थे। अपने अब तक के काम को मजबूती से जमाने के लिए और अपनी मृत्यु के बाद भी उसका प्रचार-प्रसार सुनिश्चित करने के लिए उनको एक संगठन की आवश्यकता थी। पश्चिमी भारत की यात्रा के दौरान उन्होंने आर्य समाज की स्थापना करने का सबसे महत्वपूर्ण निर्णय किया। इस संगठन ने उनके संदेश के प्रचार-प्रसार और हिन्दू धर्म तथा राष्ट्रीय भावना को मजबूत करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस समय तक सुधार सम्बंधी दयानन्द के विचार परिपुष्ट हो चुके थे और एक महान् आंदोलन आरम्भ होने की प्रतीक्षा में था।'सत्यार्थ प्रकाश' प्रकाशित हो चुका था और वेदों के अपने भाष्य को धीरे-धीरे प्रति माह पुस्तिकाओं के रूप में छापने का वे विचार कर रहे थे। प्रभावकारी सुधार आंदोलन चलाने के लिए अब उनके अनुयायियों के पास पर्याप्त साहित्य और सामग्री मौजूद थी।

इसी समय देश में दो अन्य संगठन भी सुधार का काम कर रहे थे। एक था ब्रह्म समाज और दूसरा था प्रार्थना समाज। दोनों संगठनों के नेता बहुत ही प्रतिष्ठित लोग थे और इन संगठनों की जड़े कुछ हद तक जम चुकी थीं। दयानन्द ने प्रार्थना समाज के सहयोग से एक शक्तिशाली और आक्रामक सुधार आंदोलन चलाने की पेशकश की, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना का

प्रसार करना, सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति प्राप्त करना और धर्म को सच्चे रूप में प्रतिष्ठित करना था। अतः उन्होंने राजकोट में प्रार्थना समाज के नेताओं को सुझाव दिया कि वे अपनी संस्था का नाम बदल कर आर्य समाज कर दें। प्रार्थना समाज वालों ने वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार की और संगठन का नाम बदलने की बात से भी सहमत हो गए। अतः आर्य समाज की स्थापना हो गई, किन्तु कुछ राजनीतिक हस्तक्षेपों के कारण तथा राजकोट के अंग्रेज पोलिटिकल एजेंट की अप्रसन्नता के फलस्वरूप इस आर्यसमाज का अस्तित्व शीघ्र ही समाप्त हो गया।

बम्बई में स्वामीजी ने प्रार्थना समाज का निकट से अध्ययन किंया था और निस्संदेह इससे उन्हें अपने विचारों को अधिक मांजने, स्पष्ट करने का अवसर मिला। वह कोई काम भावावेश में आकर नहीं करते थे और हर महत्वपूर्ण निर्णय बहुत सोच-विचार के बाद ही करते थे। हमें ऐसा नहीं मानना चाहिए कि स्वामीजी आर्य समाज की स्थापना का स्पष्ट इरादा लेकर बम्बई आए थे। ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता जिससे पता चले कि इस समय उनके मन में आर्य समाज की स्थापना का कोई विचार भी था। वह गंगा के मैदानी क्षेत्रों का भ्रमण कर चुके थे और अब यह स्वाभाविक ही था कि वह पश्चिमी भारत की ओर ध्यान देते, जहां उनका जन्म हुआ था।

आर्य समाज की स्थापना का निर्णय बम्बई में ही लिया गया, लेकिन इसके पीछे स्वामीजी की इच्छा का उतना हाथ नहीं था जितना लोगों की मांग का। बम्बई नगर के कुछ लोग स्वामीजी के साथ मिलकर काम करने की सम्भावना पर चर्चा करना चाहते थे। ये लोग दो विभिन्न वर्गों के थे। इनमें एक वर्ग गुजराती व्यापारियों का था और दूसरा प्रार्थना समाज के सदस्यों का।

दयानन्द को बम्बई के व्यापारी समाज के दो महत्वपूर्ण सदस्यों ने बम्बई आने का निमंत्रण दिया था। ये दोनों वाराणसी में हुए 1869 के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के अवसर पर उपस्थित थे और स्वामीजी की स्पष्ट तर्क पद्धति से वे बहुत प्रभावित हुए थे। इस शास्त्रार्थ का विषय मूर्तिपूजा था। उक्त दोनों व्यक्तियों का विचार था कि स्वामी दयानन्द से उनको वैष्णव धर्म में व्याप्त

बुराइयों को दूर करने और सुधार के अपने प्रयत्नों में बहुत सहायता मिल सकती है। अतः उन्होंने स्वामीजी को बम्बई आने का निमंत्रण भेजा। पांच वर्ष बाद, पश्चिमी भारत की यात्रा करने का निश्चय करते समय दयानन्द को उस निमंत्रण का स्मरण था। अतः उन्होंने बम्बई के अपने कार्यक्रम की सूचना उनको भेज दी।

बहुत कम लोग जानते हैं कि आर्य समाज की स्थापना सर्वप्रथम जनवरी 1875 में राजकोट में हुई थी। हुआ तो वास्तव में यह था कि वहां का प्रार्थना समाज ही नाम बदलकर आर्य समाज हो गया था। कहते हैं कि कुल इकत्तीस लोग इस समाज के सदस्य बने। इसके संस्थापक दयानन्द ने समाज के कुछ नियमादि बनाए। इन नियमों को छाप कर राजकोट तथा अन्य स्थानों पर वितरित किया गया। दयानन्द की जन्मभूमि में स्थापित यह प्रथम आर्य समाज ज्यादा दिन नहीं चला और अपने जन्म के छह महीने बाद ही समाप्त हो गया। घासीराम कहते हैं कि बड़ौदा के गायकवाड़ को अंग्रेजों द्वारा गद्दी से हटाने के प्रश्न से जुड़े कुछ राजनीतिक मुद्दे इसके लिए जिम्मेदार थे।

किन्तु दयानन्द इससे हतोत्साहित नहीं हुए। वहां से लौटते हुए दयानन्द ने अहमदाबाद में रुक कर जानना चाहा कि जो बीज उन्होंने बोए थे, वे पनपे कि नहीं। राजकोट आर्य समाज के लिए बनाए गए नियमों की प्रतियां उन्होंने कुछ दिलचस्पी रखने वाले लोगों में बांटीं। 27 जनवरी को दयानंन्द की शिक्षाओं और उपदेशों पर विचार करने के लिए वहां एक सभा आयोजित हुई। स्वयं दयानन्द ने वहां के धर्माचार्यों के साथ वैदिक मंत्रों की व्याख्या, मूर्तिपूजा तथा वेदों में वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था के बारे में चर्चा की। दयानन्द ने इस चर्चा में अपनी धाक जमा दी। यहीं मार्च के महीने में आर्य समाज की स्थापना हुई। प्रार्थना समाज के तीस संदस्य अहमदाबाद में स्थापित इस दूसरे आर्य समाज के सदस्य बन गए। दयानन्द की विफलता के कारण पर प्रकाश डालते हुए कृष्णराव भोलानाथ लिखते हैं: ''दयानन्द की विफलता का मुख्य कारण यह था कि वे समाज के सदस्यों को आर्य बनने के लिए राजी नहीं कर सके क्योंकि वे वेदों के निर्भ्रान्त होने का स्वामीजी का दावा स्वीकार नहीं करते थे, हालांकि स्वामीजी के अन्य विचारों के साथ

उनकी सहानुभूति थी। स्वामीजी ने व्यक्तिगत चर्चा के जरिए उन्हें समझाना चाहा, गोपालराव की मदद से उन्हें राजी करना चाहा, उनको 'सत्यार्थ प्रकाश' की प्रतियां पढ़ने को दीं, लेकिन सफल नहीं हुए। प्रार्थना समाज वाले अपने सिद्धान्तों पर डटे रहे और स्वामीजी अपनी जगह।''

आर्य समाज स्थापित करने के प्रयास को स्वामीजी के बम्बई आगमन के बाद फिर बल मिला। 17 फरवरी 1875 को गिरगांव में एक सभा हुई जिसमें लगभग सौ लोग शामिल हुए। काफी चर्चा के बाद रावबहादुर दादूबा पांडुरंग की अध्यक्षता में समाज के नियम बनाने के लिए एक समिति गठित की गई। पानाचंद आनंदजी पारेख को इन नियमों को फिर से लिखने का काम सौंपा गया। अंततः 10 अप्रैल 1875 को बम्बई आर्य समाज का औपचारिक रूप से उद्घाटन हुआ। समाज के नियमों की संख्या अट्ठाइस थी और इन्हें एक सार्वजनिक सभा में पढ़कर सुनाया और स्वीकृत किया गया। सभा की अध्यक्षता गिरधरलाल् दयालदास कोठारी ने की। दयानन्द को समाज का अध्यक्ष बनाने का प्रस्ताव रखा गया। किन्तु स्वामीजी ने यह सम्मान स्वीकार करने से इनकार कर दिया। तथापि उन्होंने इसका एक साधारण सदस्य बनना मंजूर किया। इसके बाद पश्चिमी भारत में रहते हुए उनके द्वारा किसी अन्य समाज की स्थापना नहीं हुई। आर्य समाज की शाखाएं पुणे, भड़ौच तथा कुछ अन्य नगरों में खोली गईं, लेकिन इन सभी का वही हाल हुआ जो राजकोट के आर्य समाज का हुआ था। डेढ़ वर्ष बाद जब स्वामीजी ने बम्बई छोड़ा, उस समय बम्बई आर्य समाज ही एकमात्र शाखा बची हुई थी।

मैं यहां समाज के कतिपय नियमों का उल्लेख करना चाहूंगा जिनमें संशोधन, परिवर्तन करने के बाद सर्वसम्मति से स्वीकृत और स्वामी दयानन्द द्वारा अनुमोदित किया गया था। ये इस प्रकार थे:

1. सब मनुष्यों के हितार्थ आर्यसमाज का होना आवश्यक है।

2. इस समाज में मुख्य स्वतःप्रमाण, वेदों का ही माना जायेगा। साक्षी के लिये तथा वेदों के ज्ञान के लिये और इसी प्रकार आर्य्य-इतिहाय के लिये, शतपथ ब्राह्मणादि ४, वेदांग ६, उपवेद ४, दर्शन ६ और ११२७ शाखा

(वेदों के व्याख्यान), वेदों के आंर्ष सनातन संस्कृत ग्रन्थों का भी वेदानुकूल होने से गौण (प्रमाण) माना जायेगा।

3. इस समाज में प्रति देश के मध्य (में) एक प्रधान समाज होगा और दूसरी शाखा प्रशाखाएँ होंगी।

4. प्रधान समाज के अनुकूल और सब समाजों की व्यवस्था रहेगी।

5. प्रधान समाज में वेदोक्त अनुकूल संस्कृतआर्यभाषा में नाना प्रकार के सत्योपदेश के लिये पुस्तक होंगे और एक "आर्य्यप्रकाश" पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में, निकलेगा। यह सब समाज में प्रवृत्त किये जायेंगे।

6. प्रत्येक समाज में एक प्रधान पुरुष, और दूसरा, मंत्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री—यह सब सभासद् होंगे।

7. प्रधान पुरुष इस समाज की यथावत् व्यवस्था का पालन करेगा और मंत्री सबके पत्र का उत्तर तथा सबके नाम व्यवस्था लेख करेगा।

8. इस समाज में सत्पुरुष सत्-नीति सत्-आचरणी मनुष्यों के हितकारक समाजस्थ, किये जायेंगे।

9. जो गृहकृत्य से अवकाश प्राप्त होय सो जैसा घर के कामों में पुरुषार्थ करता है उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिये करे और विरक्त तो नित्य इस समाज को उन्नति ही करे; अन्यथा नहीं।

10. प्रत्येक आठवें दिन प्रधान मंत्री और सभासद् समाजस्थान में एकत्रित हों और सब कामों से इस काम को मुख्य जानें।

11. एकत्रित होकर सर्वथा स्थिर चित्त हों। परस्पर प्रीति से प्रश्नोत्तर पक्षपात छोड़कर करें। फिर सामवेद आदि गान, परमेश्वर, सत्यधर्म, सत्यनीति के विषय में तथा सत्योपदेश के सम्बन्ध में ही बाजा आदि द्वारा गान हो और इसी विषय पर मन्त्रों का अर्थ और व्याख्यान हो। फिर गान, फिर मन्त्रों का अर्थ, फिर व्याख्यान फिर गान आदि।

12. प्रत्येक सभासद् न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त

करे—उसमें से आर्यसमाज, आर्यविद्यालय और आर्यप्रकाश पत्र के प्रचार और उन्नति के लिये आर्य समाज धनकोष में (एक) प्रतिशत देवे। अधिक देने से अधिक धर्मफल। इस धन का इन विषयों में ही व्यय होय, अन्यत्र नहीं।

13. जो मनुष्य इन कार्य्यों की उन्नति और प्रचार के लिये जितना प्रयत्न करे—उसका यथायोग्य सत्कार उत्साह के लिये होना चाहिये।

14. इस समाज में वेदोक्त प्रकार से प्रत्येक अद्वितीय परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने में आयेगी अर्थात् निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वजगत्पिता, सर्वजगत्माता, सर्वधाम, सर्वेश्वर, सच्चिदानन्दादि, लक्षणयुक्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य-शुत्य-बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अनन्त, सुखप्रद, धर्मार्थकाममोक्षप्रद इत्यादि विशेषणों से परमात्मा की ही स्तुति, उसका गुणकीर्तन, प्रार्थना, उससे सर्वश्रेष्ठ कार्य्यों में सहाय चाहना—उपासना, उसके आनन्द स्वरूप में मग्न हो जाना—सो पूर्वोक्त निराकार आदि लक्षण वाले की ही भक्ति करनी, उससे अतिरिक्त किसी और की कभी नहीं करनी।

15. इस समाज में निषेक आदि अन्त्येष्टि पर्य्यन्त संस्कार वेदोक्त किये जायेंगे।

16. आर्य्यविद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन कराया जायेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्यशिक्षा सब पुरुषों और स्त्रियों को प्राप्त होगी।

17. इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिये प्रयत्न किया जायेगा—एक परमार्थ और दूसरी लोकव्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जायेगी।

18. इस समाज में न्याय, जो पक्षपातरहित अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यथावत् परीक्षित सत्यधर्म वेदोक्त ही माना जायेगा। इससे विपरीत को यथाशक्ति न माना जायेगा।

19. इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् लोग सर्वत्र सत्योपदेश करने के लिये समयानुकूल भेजे जायेंगे।

20 स्त्री और पुरुष इन दोनों के विद्याभ्यास के लिये पृथक्-पृथक् आर्यविद्यालय प्रत्येक स्थान में यथाशक्ति बनाये जायेंगे। स्त्रियों के लिये पांठशालायें, अध्यापन और सेवाप्रबन्ध स्त्री द्वारा ही किया जायेगा और पुरुषपाठशाला का पुरुषों द्वारा। इसके विपरीत नहीं।

21. इन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्यसमाज के अनुकूल पालन की जायेगी।

22. इस समाज में प्रधानादि सब सभासदों को परस्पर प्रीति के लिये अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोधादि दुर्गुण सब छोड़ के उपकार सुहृदयता से सब से सबको निर्वैर होके, स्वात्मवत् सम्प्रीति करनी होगी।

23 विचार समय सब व्यवहारों में न्याययुक्त, सर्वहितकारी जो सत्य बात भली प्रकार विचार से ठहरे—उसी को सब सभासदों को प्रकाशित करके वही सत्य बात मानी जाये, उसके विरुद्ध न मानी जाये। इसी का नाम पक्षपात छोड़ना है।

24. जो मनुष्य इन नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला, धर्मात्मा, सदगुणी हो—उसको उत्तम समाज में सम्मिलित करना; उसके विपरीत को साधारण समाज में रखना और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना परन्तु पक्षपात से यह काम नहीं करना प्रत्युत् यह दोनों बातें श्रेष्ठ सभासदों के विचार से ही की जायें, और प्रकार से नहीं।

25. आर्य्यसमाज, आर्य्यविद्यालय, आर्य्यप्रकाशपत्र और आर्य्यसमाजार्थ धनकोष—इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधान आदि सभासद् तन, मन और धन, से यथावत् सदा करें।

26. जबतक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले तब तक और की नौकरी न करे और न किसी और को नौकर रखे। वे दोनों परस्पर स्वामिसेवक भाव से यथावत् बरतें।

27. जब विवाह, पुत्रजन्म, महालाभ या मरण या और कोई समय दान और धनव्यय करने का हो तब तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि का दान किया करें। ऐसा धर्म का काम और कोई नहीं है—इस निश्चय को जानकर इसको कभी न भूलें।

28. इन नियमों से यदि कोई नियम नया लिखा जायेग या कोई निकाला जायेगा अथवा न्यूनाधिक किया जायेगा सो सब श्रेष्ठ सभासदों की विचाररीति से सब श्रेष्ठ सभासदों को विदित करके ही यथायोग्य करना होगा।

बम्बई और पुणे में स्वामी दयानन्द ऐसे लोगों के घनिष्ठ सम्पर्क में आए जिन्होंने अपनी शिक्षा यूरोपीय पद्धति के स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्राप्त की थी।

बम्बई के कई प्रतिष्ठित लोगों ने स्वामीजी को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना करने में सहायता की थी। मूलजी ठाकरसी काठियावाड़ के रहने वाले एक धनी मिल मालिक थे जो अपनी साठोत्तरी उम्र में इंग्लैंड हो आए थे। उन्होंने नगरपालिका की राजनीति, विधवा-विवाह आंदोलन और वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के विरुद्ध आंदोलन में सक्रिय भाग लिया था। आरम्भ से ही उन्होंने स्वामीजी को जोरदार समर्थन प्रदान किया था। आर्य समाज की स्थापना में सहयोग देने वाले एक अन्य प्रमुख व्यक्ति थे लक्ष्मीदास खीमजी। वह भाटिया जाति के प्रमुख नेता थे और विधवा-विवाह के कट्टर समर्थक। वह बम्बई एसोसिएशन के सदस्य थे और नगरपालिका की राजनीति में भी सक्रिय थे। अपनी उग्र सुधारवादी कार्रवाइयों के कारण उन्हें हल्लाई भाटिया जाति से बहिष्कृत कर दिया गया था। बनारस में शास्त्रार्थ के अवसर पर उनके भाई धरमसी ने स्वामीजी को सुना था। मथुरादास लौजी और छबीलदास लल्लूभाई, ये दो अन्य लोग थे जिन्होंने समाज की स्थापना में अपना सक्रिय योगदान दिया था। भाटिया जाति के मथुरादास एक धनी सदस्य थे। उन्होंने 'वेदभाष्य' के प्रकाशनार्थ काफी धन चंदे के रूप में दिया था। वह आर्य समाज के एक सक्रिय सदस्य और बाद के विख्यात क्रांतिकारी श्यामजी कृष्णवर्मा के संरक्षक थे। 1882 में

स्वामीजी के दुबारा बम्बई आने पर उन्होंने एक शास्त्रार्थ आयोजित कराने का भी प्रयत्न किया था। स्वामीजी को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले के लिए उन्होंने 5000 रुपये के पुरस्कार की घोषणा की थी। लल्लूभाई, जिनका पूरा नाम भणसाली सेठ छबीलदास लल्लूभाई था, वल्लभाचारियों के घोर विरोधी थे और राजनीति में दिलचस्पी रखते थे। लल्लूभाई ने भी स्वामीजी का जोरदार समर्थन किया। वह भी श्यामजी कृष्णवर्मा की सहायता करते थे और उनसे अपनी लड़की का ब्याह कर दिया था। उनका लड़का बम्बई आर्य समाज की प्रथम सभा का सदस्य था।

उस समय के प्रार्थना समाज के महान नेता महादेव गोविन्द रानडे ने स्वामीजी को उस समय बहुत समर्थन प्रदान किया था जब वह पुणे में थे। उन्होंने स्वामीजी के पन्द्रह प्रवचनों को प्रकाशित कराने में बहुत सहयोग दिया। उनके साथ स्वामीजी का पत्राचार होता रहता था और इस महान व्यक्ति के लिए उनके मन में बहुत आदर था। ऐसा पता चलता है कि रानडे कभी-कभी बम्बई में आर्य समाज की सभाओं में भाषण भी करते थे। यह रानडे के समर्थन का ही परिणाम था कि युवा बुद्धिजीवियों ने स्वामीजी का समर्थन करना शुरू किया। स्वामीजी का समर्थन करते हुए भी रानडे ने अपने सिद्धांतों को कभी नहीं छोड़ा और उन पर वैदिक विचारों या धार्मिक सिद्धांतों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। एक सुधारक देश के कल्याण की भावना से दूसरे सुधारक का समर्थन करे, इसका यह सुंदर दृष्टांत है। रानडे के विचारों को चन्द्रावरकर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है: ''यदि दयानन्द कहते हैं कि वेद और केवल वेद ही देव-वाणी हैं तो इससे क्या होता है? यह उनका विश्वास है। लेकिन हमें और गहरे जाकर यह देखना है कि इस सिद्धान्त के अलावा और कौन-सी बातें हैं जो हमारे सिद्धान्तों के साथ मेल खाती हैं।'' रानडे ने बहुत सीमा तक स्वामीजी का समर्थन किया। दयानन्द भी इस महान समाज सुधारक का बहुत सम्मान करते थे और यही कारण है कि उन्होंने अपनी वसीयत में उनका नाम अपने ट्रस्टियों की सूची में शामिल किया था।

पुणे में स्वामीजी के सम्मान में जो जुलूस निकाला गया था उसमें हम

एक अन्य महान समाज सुधारक ज्योतिराव फुले का नाम रानडे के साथ उल्लिखित पाते हैं। स्वामीजी के विरोधियों द्वारा निकाले गए एक जुलूस के साथ इस जुलूस का संघर्ष हो गया जिसमें कई लोग घायल हुए। ज्योतिराव के आदमी बड़ी संख्या में दोनों सुधारकों की सुरक्षा हेतु स्वामीजी वाले जुलूस में शामिल हुए थे।

बम्बई आर्य समाज की स्थापना का श्रेय जिस व्यक्ति को दिया जाना चाहिए, वह थे लोकहितवादी गोपालराव हरि देशमुख। वह सुधारक होने के साथ-साथ एक सुविख्यात लेखक भी थे। वह पुणे के एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के कारण उन्हें सरकारी नौकरी मिली थी। जिस वर्ष आर्य समाज की स्थापना हुई, उस समय वह अहमदाबाद के सेशन जज थे। ब्राह्मणों और हिन्दू धर्म की बुराइयों पर आलोचनात्मक लेख लिखने के कारण वह काफी ख्याति अर्जित कर चुके थे। जिस समय दयानन्द मोक्ष की तलाश में विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर रहे थे, उस समय देशमुख द्वारा लिखे गए 'शतपत्र' 1848 और 1850 के बीच 'प्रभाकर' में प्रकाशित हो चुके थे। अपने तीन पत्रों में उन्होंने ब्राह्मणों पर आरोप लगाया था कि वे संस्कृत के अपने ज्ञान के बल पर अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता के अहंकार को तुष्ट करने में लगे हुए हैं। उस समय के अपने अनेक साथियों की भाँति ही उन्होंने भी विधवा-विवाह के लिए आंदोलन चलाया था। अपने विचारों के प्रसार के लिए उन्होंने विष्णु शास्त्री पंडित के साथ मिल कर 'इंदु प्रकाश' नामक पत्रिका आरम्भ की थी।

देशमुख ने स्वामीजी को अहमदाबाद आने का निमंत्रण दिया। आर्य समाज की स्थापना होने पर वह उसके संस्थापक-सदस्य बने। बाद में वह बम्बई आर्य समाज के अध्यक्ष चुने गए। उन्होंने स्वामीजी के अन्य कार्यों, विशेष रूप से गोरक्षा आंदोलन में सहयोग किया। दयानन्द की वसीयत में वह भी एक न्यासी मनोनीत किए गए। स्वामीजी के निधन के बाद उन्होंने उनकी जीवनी लिखी और अपने पत्र 'लोकहितवादी' में उसे प्रकाशित किया। इसे देखने से पता चलता है कि दयानन्द के लिए उनके मन में कितनी श्रद्धा थी और स्वामीजी के पत्रों से पता चलता है कि उनके मन में देशमुख के लिए कितना स्नेह था।

उक्त तथ्यों से पता चलता है कि भाटिया और मराठा लोगों में जो बुद्धिवादी थे, मुख्यत: उन्हीं का समर्थन दयानन्द को मिला। बाद में आर्य समाज की सफलता निम्न वर्ग के समर्थन से भी पुष्ट हुई। हमारे पास तीन सौ लोगों की सूची है जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना में स्वामीजी का साथ दिया। ये लोग समाज के संस्थाप्रक सदस्य बने। इस सूची में इन लोगों की जाति, शैक्षिक योग्यता और उनका पेशा या धंधा अंकित है। इस सूची का विश्लेषण करने से बम्बई के आर्यसमाजियों का सामाजिक पार्श्व दृश्य उजागर होता है।

आर्य समाज के सदस्यों में विभिन्न धंधा करने वाली जातियों के सदस्यों का बहुमत था यानी वे कम-से-कम पचपन प्रतिशत थे, किन्तु इसमें ब्राह्मण भी चालीस प्रतिशत थे। इसके लगभग आधे सदस्य व्यापार में लगे थे, बीस प्रतिशत विभिन्न पेशों में, तीस प्रतिशत छोटी-मोटी नौकरियों में और सत्रह प्रतिशत सदस्य विद्यार्थी थे। इसके सदस्य उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं थे और अधिकांश ने केवल स्कूल तक की शिक्षा ही प्राप्त की थी।

समाज की उन्नति के लिए समाज के एक सौ संस्थापक सदस्यों ने एक समिति बनाई जिसमें सोलह सदस्य थे और जिन्हें मतदान के जरिए चुना गया था। इस पहली समिति की कुछ दिलचस्प विशेषताएं इस प्रकार थीं: समाज के बहुसंख्य सदस्यों का समिति में वर्चस्व था, किन्तु जहां इसके केवल आधे सदस्य ही व्यापार में लगे हुए थे, वहीं समिति में व्यापार करने वाले सदस्यों का बहुमत था। समिति में पचहत्तर प्रतिशत सदस्य इसी वर्ग के थे। एक तिहाई सदस्य धंधों और नौकरियों में थे किन्तु समिति में उनके सदस्यों की संख्या एक चौथाई थी। ब्राह्मणों की स्थिति तो और भी लक्षणीय थी। उनकी कुल सदस्य संख्या पच्चीस थी लेकिन समिति में उनके चालीस प्रतिशत सदस्य थे। समिति में एक विद्यार्थी सदस्य भी था जिसका नाम था रामदास छबीलदास लल्लूभाई जो एक प्रसिद्ध व्यापारी का पुत्र था। एक 'उदासी' भी हिन्दी के अपने विशेष ज्ञान के कारण समिति का सदस्य था।

समाज का कामकाज चलाने के लिए, गिरधारीलाल दयालदास कोठारी, जो कि बनिया जाति के वकील थे, समाज के अध्यक्ष चुने गए। एक

दलाल जो भाटिया जाति के थे और जिनका नाम ठाकरसी नारायणजी था, उपाध्यक्ष चुने गए। पानाचंद आनंदजी को समाज का मंत्री चुना गया। सहायक मंत्री और कोषाध्यक्ष का पद एक मराठा ब्राह्मण अन्ना मार्तण्ड जोशी तथा भणसाली सेठ सेवकलाल करसनदास को दिया गया। पदाधिकारियों में भी व्यापारी वर्ग को समाज में अपनी सदस्य संख्या के अनुपात से अधिक पद प्राप्त थे।

इससे स्पष्ट है कि बम्बई आर्य समाज में व्यापारी वर्ग का वर्चस्व था। आरम्भिक काल में विद्यार्थी वर्ग ही समाज की आत्मा था। एलफिंस्टन कालेज के विद्यार्थी इस समाज के संस्थापक सदस्य बने। युवा बुद्धिजीवियों की यह दिलचस्पी समाज के भविष्य के लिए शुभ लक्षण थी। इनमें से दो छात्र ऐसे थे जिन्होंने आगे चलकर आधुनिक भारत के इतिहास पर अपनी अमिट छाप डाली। एक थे, श्यामजी कृष्ण वर्मा और दूसरे थे, गणेश श्री कृष्ण खापरडे। बम्बई आर्य समाज के पच्चीस वर्षों के दौरान उसकी समिति के निरीक्षण से पता चलता है कि इन विद्यार्थियों में से केवल चार ऐसे थे जिन्होंने समाज की गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लिया। ये थे श्यामजी कृष्ण वर्मा, तुलचाराम चुन्नीलाल, कानजी भगवान और मोरेश्वर गोपाल देशमुख।

पहले ही बताया जा चुका है कि बम्बई आर्य समाज ने अट्ठाइस नियम बनाए थे जो धर्म, संगठनात्मक उप-नियमों और नैतिक सिद्धांतों का विचित्र मिश्रण थे। ये नियम निस्संदेह स्वामीजी जैसे महान व्यक्ति के मार्गदर्शन में बनाए गए थे, लेकिन इन्हें आर्य समाज के सदस्यों पर थोपा नहीं गया था। दयानन्द ने दो बातों को स्वीकार करने पर आग्रह किया: वेद और ईश्वर। वेदों को साक्षात दैवी प्रमाण के रूप में माना जाए और उनकी व्याख्या प्राचीन ऋषियों द्वारा लिखी पुस्तकों के आधार पर की जाए। वेद में वर्णित धर्म का पालन प्रत्येक आर्य अपनी शक्तिभर करे। ईश्वर को पच्चीस नामों से वर्णित किया गया है। वह असीम है और पूर्ण है, सर्वथा निराकार है। वह अवतारों के रूप में जन्म नहीं लेता और उसे प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिए।

नैतिकता और आचरण सम्बंधी बातें भी इन नियमों में शामिल की गईं थीं; किन्तु ये बातें समाज की सदस्यता और संगठन से भी सम्बद्ध थीं। यह कहा गया था कि देश के प्रत्येक प्रांत में एक 'प्रधान समाज' हो और इसके आदर्श पर ही प्रांत के अन्य स्थानों पर इसकी शाखाएं खोली जानी चाहिए। प्रधान समाज के तीन कार्य बताए गए थे: (1) वह एक केन्द्रीय वैदिक पुस्तकालय का संचालन करेगा; और (2) वह एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ करेगा; और (3) वह आर्य समाज की सभी शिक्षा संस्थाओं का पर्यवेक्षण करेगा।

इन नियमों में दयानन्द ने समाज का सदस्य बनने की योग्यता भी निर्धारित की थी। अच्छे चरित्रवाला व्यक्ति समाज का सदस्य बन सकता था। नियमों का पालन करने वाले व्यक्तियों को समाज का सदस्य बनने के लिए आमंत्रित किया गया था। जन-कल्याण के कार्य में रुचि रखने वाले व्यक्ति भी समाज के सदस्य बन सकते थे। समाज का नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथों में रखने का निर्देश था जो नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करते हों। केवल उन्हीं लोगों को समिति द्वारा समुचित विचार-विमर्श के बाद सदस्यता से हटाए जाने का विधान था जो दुश्चरित्र हों।

समाज के सुव्यवस्थित संचालन के लिए एक समिति बनाई जानी थी। स्त्री-पुरुष, दोनों ही समाज के सदस्य बन सकते थे। अध्यक्ष और मंत्री सहित समिति के सदस्यों को दो प्रकार के कार्य सम्पन्न करने थे। पहला उन्हें दो स्कूल खोलने थे—एक लड़को के लिए और एक लड़कियों के लिए। लड़कों के स्कूल में पुरुष और लड़कियों के स्कूल में स्त्री अध्यापिकाएं हों। स्कूल में पढ़ाए जाने वाले विषयों का निर्धारण समाज करेगा और प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन पाठ्यक्रम में शांमिल किया जाएगा। यद्यपि बम्बई में कोई स्कूल उस समय नहीं खोला गया किन्तु स्वामीजी के निधन के बाद देश में आर्य समाज द्वारा अनेक शिक्षण संस्थाएं खोली गईं। समिति का दूसरा दायित्व था समाज के संदेश का प्रचार करने के लिए ज़गह-जगह प्रचारक भेजना। समिति को समुचित विचार-विमर्श के बाद समाज के नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार था।

नियमावली में साधारण सदस्यों के कर्तव्यों का भी वर्णन किया गया था। उनका कर्तव्य था कि वे समाज के विकास और प्रसार हेतु काम करें। उनसे समाज की सप्ताह में एक बार होने वाली बैठक में शामिल होने की अपेक्षा की जाती थी। उन्हें अपनी आय का एक प्रतिशत भाग समाज के चंदे में देना था। इस प्रकार जमा होने वाले कोष का उपयोग समाज की पत्रिकाओं और शिक्षा संस्थाओं के लिए किया जाना था। समाज की सबसे बड़ी विशेषता थी, उसकी स्वायत्त व्यवस्था। समाज अपने नियमों में मन चाहा फेर-बदल कर सकता था। किसी केन्द्रीय या राष्ट्रीय सत्ता का प्रावधान नहीं था। स्वामीजी लोकतंत्र के प्रेमी थे, अतः उनके विचार किसी पर आरोपित नहीं किए गए। यह भी उल्लेखनीय है कि दयानन्द को समाज के संविधान में कोई स्थान नहीं दिया गया, यहां तक कि संरक्षक का दर्जा भी नहीं। केवल वेदों के सूक्त ही समाज, उसके संविधान, उसके सदस्यों और अनुयायियों के पथ-प्रदर्शक थे। समाज का उद्देश्य बहुत व्यापक था: पूरे समाज के भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए कार्य करना।

स्वामीजी का अभिप्राय क्या था? वह उन सभी हिन्दुओं को एक साथ लाना चाहते थे जो धर्मानुरागी थे, समाज-सुधार के पक्षपाती थे और सुधार का यह कार्य वैदिक शिक्षाओं के अनुसार करना चाहते थे। श्री जार्डेन्स लिखते हैं: "स्वामीजी का विचार यह कतई नहीं था कि वह अपने विचारों के प्रसार के लिए अपने अनयायियों का एक संगठन खड़ा करें। सुधार की प्रेरणा स्वयं जनता के अंतर में जागृत होनी थी और उसे आत्मोत्थान और समाजोत्थान का काम स्वयं अपने हाथ में लेना था। सलाह देने के लिए दयानन्द स्वयं या उनकी पुस्तकें सदैव मौजूद थीं, लेकिन वह उनके नेता की भूमिका निभाने को तैयार नहीं थे।"

दयानन्द अपने ज्ञान की सीमा को पहचानते थे और इसीलिए उन्होंने किसी का गुरु होना स्वीकार नहीं किया। ठाकुर उमरावसिंह द्वारा शिष्य बनाए जाने का आग्रह करने पर स्वामी दयानन्द ने कहा कि मेरे विचारों में आस्था रखने वाले किसी व्यक्ति को मैं शिष्य नहीं बनाता। मेरे कार्य में जो सहायक हैं वे सभी मेरे भाई हैं। वह आर्य समाज को एक संस्था का रूप देना चाहते थे, किसी सम्प्रदाय या किसी धार्मिक पंथ का नहीं। इसीलिए

उन्होंने समाज की ऐसी व्यवस्था रखी कि उसका कोई सदस्य संगठन में बहुत शक्तिशाली न बन सके। वेद को ही सर्वोपरि रखा गया। समाज के सदस्यों को समाज में इच्छानुसार परिवर्तन करने का अधिकार था। दयानन्द ने अपने लोकतांत्रिक विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया कि यदि आप समाज की स्थापना करके उसके द्वारा मानवमात्र का कल्याण कर सकते हों तो समाज की स्थापना करें। मैं इसमें बाधा नहीं डालूंगा। किन्तु यदि आप उसका संगठन सुचारु रूप से नहीं करेंगे तो भविष्य में बहुत कठिनाइयां उत्पन्न होंगी। जहां तक मेरा सवाल है, मैं आपको भी इसी प्रकार का परामर्श और मार्गदर्शन दूंगा जैसा कि मैं दूसरों को देता हूं। आप इतनी बात हमेशा ध्यान रखें कि मेरे सिद्धांतों में कोई अनोखापन नहीं है और न मैं सर्वज्ञ हूं। इसलिए अगर भविष्य में तर्क की कसौटी पर मेरी कोई बात गलत सिद्ध हो तो उसे सुधार लें। आप ऐसा नहीं करेंगे तो यह समाज भी और सम्प्रदायों की तरह एक सम्प्रदाय बनकर रह जाएगा। इसी कारण भारत में इतने पंथ और सम्प्रदाय पैदा हो गए हैं। गुरु के शब्द को अंतिम सत्य मानने के कारण गहरे पूर्वाग्रह उत्पन्न हो गए हैं और इससे ज्ञान प्राप्ति के सारे अधिकार नष्ट हो गए हैं। यही कारण है कि भारत आज इस दुर्दशा को प्राप्त हुआ है। यदि समाज भी इस रास्ते चला तो वह भी एक पंथ बनकर रह जाएगा। मेरी दृढ़ मान्यता है कि विभिन्न मत-मतांतरों के बावजूद यदि सभी लोग वेदों में आस्था रखें तो यह सभी छोटी-छोटी नदियां वैदिक ज्ञान के समुद्र का रूप धर लेंगी और धर्म की एकता स्थापित होगी। धर्म की इस एकता से सामाजिक और आर्थिक सुधार आएगा, कला और कौशल की वांछित उन्नति होगी और मानव जीवन को पूर्णत्व प्राप्त होगा, क्योंकि तब मनुष्य को हर मूल्य की धर्म-शक्ति प्राप्त होगी – आर्थिक मूल्य की, मनोवैज्ञानिक मूल्य की और मोक्ष के सर्वोच्च मूल्य की।

सार्वजनिक प्रवचन और शास्त्रार्थों के फलस्वरूप आर्य समाज की स्थापना हुई और इसी के माध्यम से इसका प्रचार-प्रसार हुआ। समाज की जड़ों को मजबूत करने के लिए अब स्वामीजी ने अपने मिशन के सकारात्मक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया। ये थे: आर्य जाति का इतिहास, वेदों द्वारा प्रकट होने वाला सत्य, ईश्वर और आत्मा सम्बंधी विश्वास,

नैतिकता और राष्ट्रोत्थान। उन्होंने अपने प्रवचनों और शास्त्रार्थों द्वारा यह कार्य तेजी से प्रारम्भ किया। एक दिन छोड़कर वह प्रवचन करते थे। बीच का एक दिन वह धर्म-चर्चा में लगाते थे।

पुणे में दयानन्द ने जो प्रवचन दिए वे उनके सर्वोत्तम प्रवचन माने जाते हैं। इनकी संख्या पन्द्रह है। इनमें से कुछ उन्होंने शहर में दिए थे और कुछ केंटोनमेंट में। इन्हें अखबारों में उद्धृत किया गया और ये मराठी, गुजराती तथा हिन्दी में अनूदित किए गए। ये प्रवचन भारतीय संस्कृति, आर्यजाति, वैदिक धर्म, पुनर्जन्म, पुनर्विवाह और नियोग आदि विषयों पर थे। उन्होंने पुनर्विवाह और नियोग के बारे में बहुत जोरदार ढंग से तर्क दिए। एक प्रवचन में उन्होंने कहा कि विधवा विवाह की मेरी आलोचना का उद्देश्य उन लोगों का समर्थन करना नहीं है जो विधवा-विवाह का विरोध करते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यही हैं कि द्विजों के लिए नियोग श्रेयस्कर है। प्राचीन काल में नियोग का व्यापक प्रचलन था, इसीलिए पुनर्विवाह की आवश्यकता नहीं होती थी। लेकिन इस युग में नियोग और पुनर्विवाह दोनों ही समाप्त हो गए हैं ओर इससे जो पापाचार उत्पन्न हुआ है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह सारा पाप हमारे सिरों पर है। आज रूढ़ियों का मिथ्या अंधानुकरण देख कर यही मानना पड़ता है कि विधवा-विवाह इसकी अपेक्षा कहीं ज्यादा अच्छा है।

उनके छह प्रवचनों में वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक के इतिहास, पुराणों, धार्मिक सम्प्रदायों और पंथों पर चर्चा की गई थी। 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना करने के बाद से स्वामीजी भारत के इतिहास के बारे में अपने ज्ञान को और भी विस्तृत करते रहे थे। उनका अंतिम प्रवचन आत्मकथात्मक था, जो स्वामीजी के आरम्भिक जीवन के बारे में जानकारी प्राप्त करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है।

स्वामीजी अपने समकालीन विद्वानों के साथ की जाने वाली चर्चा को भी अपने काम का एक हिस्सा मानते थे। बम्बई में फ्रामजी क्रावसजी हाल में स्वामीजी ने मूर्तिपूजा के बारे में विद्वानों के साथ चर्चा की। इसके अलावा, उन्होंने आर.जी. भंडारकर और विष्णुशास्त्री चैपुलंकर, विष्णु परशुराम

शास्त्री जैसे संस्कृत के प्रकांड विद्वानों से भी चर्चा की। कहा जाता है कि स्वामीजी ने वान बूलर, जे. विल्सन और मोनियर विलियम्स जैसे पाश्चात्य विद्वानों के साथ भी विचार-विमर्श किया। इसके बाद दिल्ली दरबार और चांदपुर मेले के दौरान स्वामीजी ने शास्त्रार्थ किए। इसके साथ-साथ स्वामीजी अपने ग्रंथों की रचना में भी संलग्न रहे।

1876 में पश्चिम भारत छोड़ते समय तक स्वामीजी ने जनता के बीच बहुत ख्याति और लोकप्रियता अर्जित कर ली थी। मार्च 1877 के अंत में वह पंजाब पहुंचे। सामाजिक और जातीय विभेदों के कारण पंजाब की हालत बहुत खराब थी। हिन्दू अल्प संख्या में थे और मुसलमानों का बहुमत था। फिर हिन्दुओं में जाति प्रथा का भयंकर रोग फैला हुआ था। शिक्षित पंजाबियों का एक अलग वर्ग था। 1849 में अंग्रेजी शासन लागू होने के बाद से ईसाई मिशनरी भी पंजाब में प्रकट हो गए थे। ऊंची जाति के लोगों ने ईसाई धर्म अपनाना शुरू कर दिया। पंजाब की जनता में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। स्वामीजी को पंजाब आने का निमंत्रण देने वालों में कोहिनूर प्रेस के मालिक मुंशी हरसुखराय, सिखों के एक प्रमुख नेता सरदार विक्रमसिंह अहलूवालिया, एक प्रसिद्ध सुधारक और लेखक कन्हैयालाल अलखधारी आदि अनेक गणमान्य लोग थे। ब्रह्म समाज और सत् सभा के लोगों ने भी स्वामीजी को आमंत्रित किया था। पंजाब में अपना आधा समय स्वामीजी ने लाहौर और अमृतसर में व्यतीत किया। उन्होंने रावलपिंडी, जालंधर, गुरदासपुर, मुल्तान, गुजरांवाला, गुजरात, लुधियाना, झेलम और फिरोजपुर का दौरा किया। इन स्थानों पर स्वामीजी ने इस्लाम, ईसाई धर्म, ब्रह्म समाज, सिख धर्म और समाज-सुधार के तत्वों पर प्रवचन दिए। इसके अतिरिक्त उन्होंने गोरक्षा और मांसाहार के बारे में भी प्रवचन दिए।

पंजाब की राजधानी लाहौर में दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न किया। यह ध्यान रखने की बात है कि पंजाब के सनातनी हिन्दुओं ने स्वामीजी का विरोध किया था और उन्हें अपना विकट शत्रु माना था। उनके विरुद्ध प्रचार किया गया कि वह नास्तिक थे और ईसाई मिशनरियों के एजेंट थे। उन्होंने दयानन्द के एक प्रशंसक और सत् सभा के प्रचारक पंडित भानुदत्त पर दबाव डाला कि वह दयानन्द को सत् सभा में शामिल करने के लिए राजी करें।

कहने की जरूरत नहीं कि सारे विरोधों के बावजूद स्वामीजी को पंजाब में आर्य समाज की स्थापना करने में सफलता मिली। बम्बई में समाज की स्थापना में स्वामीजी को छह महीने लगे थे, लेकिन पंजाब में 24 जन 1877 को उनके आगमन के दो माह के भीतर ही समाज की स्थापना हो गई।

स्वामीजी के जीवनकाल में स्थापित आर्य समाज की प्रांतीय शाखाओं में पंजाब का स्थान दूसरे नम्बर पर था। यहां हम लाहौर आर्य समाज के संक्षिप्त इतिहास पर नजर डालेंगे। आरम्भ में करीब एक सौ लोग समाज में शामिल हुए। बाद में यह संख्या बढ़ गई। बम्बई की भांति यहां भी बाईस लोगों की एक समिति गठित की गई। लेकिन यह समिति काफी महत्वपूर्ण थी और इसके आधे सदस्यों के पास विश्वविद्यालय की डिग्रियां थीं।

लाहौर आर्य समाज के नमूने पर ही पंजाब में अन्य स्थानों पर उसकी शाखाएं स्थापित की गईं। लाहौर में समाज में बम्बई में बनाए गए नियमों पर पुनर्विचार किया गया और उन्हें नए सिरे से तर्काधारित क्रम देने का प्रयत्न किया गया। बम्बई वाले नियम बड़े लम्बे-चौड़े थे। इन नियमों को फिर से बनाया गया और समाज के संविधान की नए सिरे से रचना की गई और उसे अंतिम रूप दिया गया। दयानन्द ने इनमें केवल दस सिद्धांतों का समावेश किया। आज तक इन दस सिद्धांतों को ज्यों-का-त्यों कायम रखा गया है।

इन दस सिद्धांतों में आर्य समाज के उद्देश्य, ध्येय आदि वर्णित हैं और समाज की सदस्यता के लिए आवेदन करते समय प्रत्येक आर्य को इन में अपनी आस्था व्यक्त करनी पड़ती है।

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुमम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।
3. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

5. सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिए। किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

10. सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

वैयक्तिक मामलों में प्रत्येक को आचरण की पूरी आजादी होगी।

इन दस सिद्धांतों के अलावा और कोई नियम बाध्यकारी नहीं है। समाज के प्रथम तीन सिद्धांतों में ही उसका धार्मिक सिद्धांत समाहित है जो ईश्वर, ईश्वरीय शक्ति और वेदों की शिक्षा के बारे में समाज के विश्वास का प्रतिपादन करते हैं। इन सिद्धांतों की तुलना बम्बई में निर्मित नियमों से करने पर इस धारणा को बल मिलता है कि उक्त नियमों पर पुनर्विचार और संशोधन इसलिए किया गया कि सभी प्रकार के मताग्रहों से उसे मुक्त रखा जाए और समाज के उक्त दस सिद्धांतों को विवादमुक्त किया जाए। इस प्रकार आर्य समाज को उसका हिन्दू चरित्र अक्षुण्ण रखते हुए ज्यादा-से-ज्यादा उदार बना दिया गया।

स्वामीजी ने आर्य समाज का आधार वेदों को माना। मैक्समूलर के शब्दों में : "स्वामीजी वेदों को देव-रचित ही नहीं, इतिहास और मनुष्य से भी प्राचीन मानते थे।" उनकी दृष्टि में वेदों में कही गई प्रत्येक बात पूर्ण सत्य थी। इस मामले में वह प्राचीन ऋषियों की भांति ही ऐसा मानते थे कि वेद ईश्वरीय कृति हैं। उनके लिए किसी भी ऐसे धार्मिक संगठन की कल्पना ही असम्भव थी जो उक्त सत्य की उपेक्षा करता हो। जब दयानंद लाहौर

गए तो कुछ लोगों ने उन्हें इस बात के लिए राजी करने का प्रयत्न किया कि वे वेदों सम्बंधी अपने सिद्धांत को आर्य समाज के सिद्धांतों में से निकाल दें। लेकिन यह ऐसा सुझाव था जिसे वे कदापि स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनका तो ध्येय ही वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना और हिन्दू समाज में व्याप्त बुराइयों का उन्मूलन करना था। उनका ध्येय एक नये धर्म की स्थापना करना तो था ही नहीं। किन्तु विवादास्पद सिद्धांत की शब्दावली में वह इस प्रकार का परिवर्तन करने के लिए राजी हो गए कि उसमें बुद्ध से पूर्व के सभी प्राचीन शास्त्रवेत्ताओं और विभिन्न हिन्दू विचारधाराओं के प्रतिनिधियों द्वारा वेदों की विविध व्याख्याओं को सम्मिलित किया जा सके। आर्य समाज में शामिल होने वालों पर अपनी राय थोपने की उनकी कोई इच्छा नहीं थी। वह चाहते थे कि वे प्राचीन ऋषियों, मुनियों तथा विद्वानों की सर्वसम्मत राय का अनुसरण करें। अतः जब उनसे कहा गया कि आर्य समाज के सिद्धांतों को वह ऋषियों की भाषा में रखना स्वीकार करें तो यह सुझाव उन्होंने सहर्ष स्वीकार करते हुए वैसा ही किया। 1875 में बम्बई में प्रतिपादित सिद्धांतों और लाहौर में 1877 में अंतिम रूप से स्वीकृत सिद्धांतों में स्पष्ट अंतर का यही कारण है।

इन दस सिद्धांतों के बारे में स्वामीजी ने अपनी स्वीकृति दी। प्रथम दो सिद्धांत ईश्वर से सम्बंधित हैं। इनमें ईश्वर को समस्त ज्ञान का मूल मान कर उसके गुणों का वर्णन किया गया है, जैसा कि बम्बई वाले नियमों में किया गया था। तीसरे सिद्धांत में वेदों का उल्लेख किया गया है। वेदों को सत्य के विज्ञान का ग्रंथ कहा गया है। सभी आर्यों के लिए इसको पढ़ना और इसके अध्ययन का प्रचार करना अनिवार्य है। राय मूलराज ने सुझाव दिया था कि इस नियम में संशोधन किया जाए ताकि सभी विचारधाराओं के लोग समाज के सदस्य बन सकें। उन्होंने इस महत्वपूर्ण तीसरे नियम के शब्दों की निम्न व्याख्या की:

''स्वामी दयानन्द ने नियमों, सैद्धांतिक मुद्दों और दार्शनिक प्रश्नों की बहस में पड़ने से इनकार कर दिया। उन्होंने जो कुछ लिखा था, उसमें उनका पूरा विश्वास था लेकिन वह दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णु थे। जो व्यक्ति दस नियमों का पालन करे वह स्वामीजी की राय में समाज का सदस्य बन सकता था, भले ही अन्य विषयों पर उसकी राय चाहे जो भी हो। उन्होंने

समाज की सदस्यता के लिए यह शर्त अनिवार्य नहीं मानी कि वेदों की उनकी व्याख्या को सही माना जाए। किसी सदस्य से अपने विचार और भाषण की स्वतंत्रता त्याग़ने की अपेक्षा नहीं की जाती है।" किन्तु स्वामीजी ने इस महत्वपूर्ण सिद्धांत को छोड़ने से इनकार कर दिया।

नियम संख्या 6 में समाज के उद्देश्यों का वर्णन है: समाज का मुख्य ध्येय सारे संसार का सामाजिक, भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण है। अन्य नियमों में बताया गया है कि समाज के सदस्यों का दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए: उन्हें सभी मनुष्यों में सत्य के प्रति निष्ठावान होने की कामना करनी चाहिए और विवेक द्वारा अज्ञान का उन्मूलन करना चाहिए। कोई आर्य अपने लाभ की चिन्ता ही नहीं करेगा बल्कि समाज के लाभ का ध्यान रखेगा। उन्हें सबके कल्याण से सम्बंधित नियमों का पालन करना चाहिए, किन्तु अपने वैयक्तिक लाभों के मामले में वह स्वतंत्र होंगे। संक्षेप में, इन नियमों का उद्देश्य मनुष्य को नैतिकता का पाठ सिखाना था। मूलराज लिखते हैं:

"हमें आभारी होना चाहिए कि आर्य समाज की स्थापना अत्यंत व्यापक और उदार सिद्धांत पर आधारित है। वह है: एक चिरंतन ब्रह्म और वेदों में आस्था। इस धर्म के विस्तृत मंच पर, जो कि दार्शनिक सिद्धांतों से मुक्त है, मानसिक विकास के विभिन्न स्तरों और विभिन्न विचारधारा के लोग वेदों का अध्ययन करने और उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की उपासना करने के लिए एकत्र हो सकते हैं जिसका गुणगान हमारे पूर्वजों ने किया है।"

स्वामीजी ज़ब पंजाब से चले, उस समय वह जितने भी नगरों में गए, वहां-वहां समाज की शाखाएं स्थापित हो चुकी थीं। केवल लुधियाना और गुजरात में वहां की हिन्दू महासभा ने समाज में शामिल होना स्वीकार नहीं किया। घासीराम के अनुसार कुछ शाखाओं का आरम्भ बहुत अच्छी प्रकार हुआ। अमृतसर की समाज-शाखा में 50 और रावलपिंडी की शाखा में शुरू में केवल 30 सदस्य थे। अन्य शाखाएं छोटे पैमाने पर स्थापित हुईं। झेलम की समाज-शाखा में केवल 12 और मुल्तान शाखा में शुरू में केवल सात सदस्य थे। लाहौर शाखा बहुत मजबूत थी जिसमें कम से कम 300 सदस्य स्वामीजी के प्रस्थान के समय थे।

एक सच्चा धर्म-योद्धा

आधुनिक भारत के निर्माण के सम्बंध में दयानन्द के विचार क्रांतिकारी और उग्र थे। राष्ट्रीय चेतना के नव जागरण काल में स्वामीजी और आर्य समाज की भूमिका एक प्रबल शक्ति-संचारक की रही। स्वामीजी नव-रचना और राष्ट्र-निर्माण के प्रबल प्रवर्तक थे। अपने स्थापना-काल से ही आर्य समाज ने भारत के जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करना शुरू कर दिया। कोई भी ऐसा राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक आंदोलन नहीं था जिसके पीछे आर्य समाज की प्रेरणा न रही हो। गंगा प्रसाद उपाध्याय के अनुसार आर्य समाज पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के समान था जो अदृश्य होते हुए भी सारी गतिविधियों को प्रभावित और प्रेरित करता है। दयानन्द का आर्य समाज कोई गुप्त संस्था नहीं थी। वह देश में व्याप्त बुराइयों की खुले आम आलोचना करता था और उसके द्वार सबके लिए खुले हुए थे। उसका साहित्य खुला साहित्य था। अनेक धार्मिक अवधारणाएं जो इतनी पवित्र मानी जाती थीं कि उन्हें साधारण जन सुन भी नहीं सकते थे, उन्हें आर्य समाज ने रहस्य के गर्त से निकाल कर सर्वसुलभ बना दिया। जो लोग आर्य समाज को द्वेष की निगाह से देखते थे, उन्होंने भी समाज से काफी कुछ ग्रहण किया।

दयानन्द एक सच्चे धर्म-योद्धा थे। उनका उद्देश्य भारत में प्रचलित विदेशी धर्मों को ठेस पहुंचाना नहीं, बल्कि इस देश के राष्ट्रीय धर्म का प्रचार करना था। दयानन्द ने हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम, जैन धर्म और बौद्ध धर्म का विरोध किसी जातीय अभिमान अथवा धार्मिक ईर्ष्या के कारण नहीं, बल्कि सबके कल्याण और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की भावना को सामने रख कर किया। उनकी राय में ये कट्टरपंथी धर्म राष्ट्र की समुचित प्रगति और भारतीय समाज की पुनर्रचना के मार्ग में बाधक थे। ऐसे धर्मों के मताग्रही

हस्तक्षेप के कारण पिछली कुछ सदियों से भारत पतन के गर्त में डूब गया था। समाज निर्जीव हो गया था और उसमें अपनी पुनर्रचना की क्षमता नहीं रह गई थी। इन धर्मों के चलते भारत के राष्ट्रीय धर्म, जिसे 'हिन्दू धर्म' भी कहते हैं, का शुद्ध स्वरूप बिगड़ कर पतित हो गया था। अतः दयानन्द ने इन धर्मों के विरुद्ध धर्मयुद्ध छेड़ दिया और प्रयत्न किया कि राष्ट्रीय धर्म 'आर्य धर्म' का विचार फैले।

इस समय ब्राह्मणों की एकछत्र सत्ता थी। ब्राह्मण को हिन्दू धर्म में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और अन्य जातियों का कोई महत्व ही नहीं था। ब्राह्मण को ईश्वर का प्रतिरूप माना जाता था और समाज के बाकी लोगों का काम केवल उसके आदेशों का पालन करना था, जैसे कि एकमात्र वही ईश्वर की इच्छा जानने वाला हो। समाज में उसी का वर्चस्व था और वह नियमों से ऊपर था। वह परम्परा या सामाजिक प्रथाओं से भी ऊपर था। वेदों और पुराणों के कथन नहीं, बल्कि उसकी बात कानून थी। वह समस्त हिन्दू जीवन पद्धति, हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं, उसके धर्मदर्शन, उसके संस्कारों और उसके सामाजिक आर्थिक पक्षों का नियामक बन कर बैठा हुआ था। वह धर्म की व्याख्या कर सकता था। ब्राह्मण वर्ग समाज और धर्म की सभी बुराइयों की जड़ था। तरह-तरह के कर्मकांड रचे गए थे और इनका उपयोग वे अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए करते थे। पाप, मुक्ति और मृत्यु के पश्चात सद्गति पाने के लिए अनेक प्रकार के रहस्यपूर्ण विधि-विधानों को गढ़ा गया था। उपनिषदों की सीधी-सरल शिक्षाओं का स्थान मंदिरों, पशुओं की बलि, जुलूसों, आडम्बरों, साल-साल भर चलने वाले मेलों, अनगिनत देवी-देवताओं की पूजा, घंटी और दीपों तथा मंत्रोच्चार आदि ने ले लिया था जिसे इन्हें सुनने वाले ता क्या, इन्हें बोलने वाले भी नहीं समझते थे। इसके अलावा, वेदों के अध्ययन पर ब्राह्मणों ने एकाधिकार जमा लिया था। शूद्र वेदों का पाठ नहीं सुन सकता था। वेद पाठ सुनना उसके लिए जघन्यतम पाप था। अन्य जातियों को वेदों के मंत्र सुनने का अधिकार था पर वे उनका अध्ययन नहीं कर सकते थे। लेकिन ब्राह्मणों को स्वयं भी चारों वेदों का ज्ञान नहीं था और बहुत से तो एक भी वेद नहीं जानते थे।

प्रचलित ब्राह्मण धर्म में मूर्तिपूजा और कठोर जाति-प्रथा दो ऐसी चीजें थीं जिन्होंने हिन्दू समाज को अंधकार के गर्त में झोंक कर उसे टुकड़ों-टुकड़ों में बांट दिया था। जाति-प्रथा ने हिन्दुओं के बहुमुखी विकास को अवरुद्ध कर दिया। जातियों के अलावा प्रत्येक जाति अनेक उपजातियों में बंटी हुई थी। ऐसे टुकड़ों में बंटे समाज को किसी-न-किसी दिन गिरना ही था, भले ही उसमें कितनी ही अच्छाइयां क्यों न हों।

दयानन्द ने इस बुराई को देखा और उसकी तह तक पहुंचे। उन्होंने देखा कि ब्राह्मण प्रधान हिन्दू धर्म की अन्य बुराइयों की भांति जाति-प्रथा की बुराई भी वैदिक सिद्धांतों की गलत व्याख्या के कारण ही है। जन-साधारण वेदों की भाषा नहीं समझता था और ब्राह्मण लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए उसका मनमाना अर्थ बताते थे। जन-साधारण की समझ से बाहर होने के कारण वेदों की इस भाषा को एक विशिष्ट पवित्रता प्राप्त हो गई थी और इस भाषा को सीखने का अधिकारी ब्राह्मण भी विशिष्ट पवित्रता से मंडित हो गया। वे ही इन पवित्र ग्रंथों का पाठ कर सकते थे, उसमें बताए गए विधि-विधानों को सम्पन्न कर सकते थे और विभिन्न अवसरों के लिए उपयुक्त मंत्रों का चुनाव कर सकते थे।

इस समय तक ईसाई धर्म प्रचारकों की शक्ति भी बहुत बढ़ गई थी। उनका प्रचार कार्य विशेष रूप से कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में पूरे जोर पर था। डा. अलेक्जेंडर डफ़ के नेतृत्व में पादरी लोग भारतीयों को ईसाई बनाने में लगे हुए थे और भारतीयों को ईसाई बनाने की दिशा में पहले कदम के रूप में देशी भाषणों के मुकाबले अंग्रेजी का वर्चस्व स्थापित करने का उन्होंने फैसला कर लिया था। यह डा. डफ़ और मैकाले का ही प्रभाव था कि लार्ड विलियम बेंटिंक की सरकार ने अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान के प्रसार को अंग्रेज सरकार का प्रमुख लक्ष्य निर्धारित किया। मिशनरियों ने अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए अनेक स्कूलों की स्थापना की। अंग्रेजों को लगता था कि यूरोप के ऊपर एशियाई सभ्यता का जो प्राचीन ऋण था, उसे अदा करने का अब समय आ गया है। वह विज्ञान जो पूर्व में जन्मा और पश्चिम में परिपक्व हुआ था, अब सारे संसार में छा जाने वाला था। स्कूलों, कालेजों और

विश्वविद्यालयों की स्थापना करके मिशनरियों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया जो पाश्चात्य संस्कृति और विचारों से प्रभावित था। राजा राममोहन राय के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज ने आंधुनिक यूरोप, विशेष रूप से इंग्लैंड के आधुनिक सामाजिक आदर्शवाद को सराहना शुरू किया।

हिन्दू धर्म और हिन्दू सामाजिक संस्थाओं पर आक्रमण करने वाली मिशनरियों की इस रणनीति का दयानन्द ने विरोध किया। हिन्दुओं की कठोर जातिप्रथा, बाल-विवाह, मूर्तिपूजा जैसी बुराइयों का उदाहरण देकर मिशनरियों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि भारतवासी यूरोपीयों के ऊपर अभियोग लगाने के सर्वथा अयोग्य हैं। अनेक भारतीयों ने अपने पूर्वजों के धर्म को छोड़ कर ईसाई बनना शुरू कर दिया। मिशनरियों ने राजा राममोहन राय तक को ईसाई बनाने की कोशिश की। मैक्समूलर के अनुसार: ''कलकत्ता के प्रथम बिशप श्री मिडिलटन को लगा कि राममोहन राय को ईसाई बनाना उनका कर्तव्य है और इस कोशिश में उन्होंने न केवल अपने धर्म की श्रेष्ठता और सच्चाई का बखान ही किया, बल्कि उन्होंने राममोहन राय को यह भी बताया कि ईसाई बन जाने पर उनकी ख्याति, प्रभाव और उपयोगिता बहुत बढ़ जाएगी। राममोहन राय ने इस बात पर काफी क्षोभ व्यक्त करते हुए कहा कि मुझे सत्य और अच्छाई जैसे गुणों से ही प्रभावित किया जा सकता है, किसी प्रलोभन से नहीं। इसके बाद वह बिशप महोदय से फिर कभी नहीं मिले।''

भारतीय समाज इस धर्म-परिवर्तन अभियान के विरुद्ध था। हिन्दू धर्म छोड़ कर ईसाई बनने वाले व्यक्ति के बारे में यह समझा जाता था कि वह अपने पूर्वजों के धर्म से ही विमुख नहीं हुआ, बल्कि अपने पूरे समाज से विमुख हो गया। ऐसा माना जाता था कि जो व्यक्ति ईसाई बनता है, वह गो-मांस और मदिरा का सेवन भी करता है। वह यूरोपीय वेशभूषा अपना कर अपने पूर्वजों के धर्म को गाली देता है। अतः भारत राष्ट्र और भारतीय समाज के विखंडन का एक प्रमुख कारण विदेशी धर्म को अपनाया जाना था।

ईसाई लोग अपने को भारतीयों से श्रेष्ठ समझते थे और यह प्रचार करते

थे कि अंग्रेज लोग भारतीयों को बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से कभी भी पराजित कर सकते हैं। भारतीयों को बराबर उनकी हीनता का अहसास कराया जाता था। रेलें, डाक-तार और क़ारखाने भारत के शिक्षित और अशिक्षित लोगों को बराबर यह संदेश दे रहे थे कि अंग्रेज लोग प्राकृतिक नियमों और टैक्नोलाजी के क्षेत्र में कहीं ज्यादा श्रेष्ठ थे। शेक्सपियर के नाटक, मिल्टन का काव्य गोरी शासक जाति की बौद्धिक उद्घोषणा करते थे। मिशन स्कूलों में बच्चों को बताया जाता था कि भारतीयों के ऊपर यूरोपीयों की श्रेष्ठता का कारण ईसा मसीह की कृपा का प्रसाद है। ईसाई धर्म प्रचारक हिन्दू समाज की बुराइयों की आलोचना करते हुए गर्व से बताता था कि उसका समाज इन अभिशापों से मुक्त है। वह ईसाई धर्म ग्रंथों की तुलना हिन्दू धर्म ग्रंथों से करता था और दिग्भ्रमित लोगों को यकीन दिलाता था कि ईसाई धर्म ग्रंथ श्रेष्ठ हैं। वे वेदों की निन्दा करते हुए कहते थे कि उनमें मूर्खतापूर्ण कर्मकांड बताए गए हैं।

इस्लाम ने भी हिन्दू धर्म पर जेहाद बोल रखा था। वह हिन्दू धर्म की आलोचना अत्यंत कठोर भाषा में करता था। वह मूर्तिपूजा और वैदिक विधि-विधानों की निन्दा करता था। मुस्लिम धर्माचार्यों के अनुसार हिन्दू कर्मकांड कोरी बकवास थे। वे हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था की भी आलोचना करते थे। मिशनरियों की भांति ही इस्लाम ने भी हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया। ईसाइयों के आने के पहले ही एक हाथ में कुरान और दूसरे में तलवार लेकर सभी हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए इस्लाम के मुजाहिदीन भारत आ चुके थे। स्वामी दयानन्द के समय में अंग्रेजों की कूटनीति के कारण हिन्दुओं और मुसलमालों के बीच वैमनस्य बहुत बढ़ चुका था। गोपनीय सरकारी कागजातों से पता चलता है कि अंग्रेजी हुकूमत मुसलमानों को हिन्दुओं को लूटने और गाली देने के लिए उकसाती थी।

दयानन्द को जिन विरोधी ताकतों का सामना करना पड़ा, वे थीं–(क) ब्राह्मण वर्ग, जिसने समाज में अपने को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर लिया था। (ख) ईसाई मिशनरियों का संगठित समूह, जिसने धर्म परिवर्तन

को अपना पवित्र कर्तव्य मान लिया था। (ग) इस्लाम का सक्रिय हिन्दू विरोधी प्रचार अभियान, जिसे वे गोपनीय ढंग से बराबर चला रहे थे।

दयानन्द ने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया। उनका मत था कि यदि भारत का धर्म शुद्ध किया जा सके तो किसी विदेशी धर्म के लिए यहां कोई स्थान नहीं रह जाएगा। स्वामीजी के अकेले इस नारे ने आर्यावर्त में एक नया क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया तथा विदेशी धर्मों और ब्राह्मणों के निहित स्वार्थों पर आघात किया। उनके मन में बाइबिल, कुरान और पुराणों के लिए कोई श्रद्धा नहीं थी। अपने इस नारे को लेकर उन्होंने विदेशी धर्मों और उन भारतीय धर्मों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी जो भारत के लिए अनुपयुक्त थे। उनके मन में ऐसे लोगों के लिए स्थान नहीं था, जिन्होंने पिछले एक हजार वर्ष के दौरान भारत के पतन में योगदान दिया था। जिन लोगों ने सच्चे वैदिक धर्म को भ्रष्ट और दूषित किया था, उनके वे घोर आलोचक थे। वेदों के लिए उनके मन में अपार श्रद्धा थी। वह उनमें सभी समस्याओं का समाधान देखते थे। उनके गुरु ने उन्हें शिक्षा दी थी : ''बहुत समय से भारतवर्ष में वेदों की शिक्षा देना बंद हो गया है। जाओ, और वेदों की शिक्षा दो। सच्चे शास्त्रों की शिक्षा दो और उनके प्रकाश से उस अंधकार को दूर करो जिसे मिथ्या धर्मों ने फैलाया है।'' अतः दयानन्द ने वेदों के संदेश को प्रचारित-प्रसारित करना आरम्भ किया। आर्य समाज का छठा नियम कहता है : ''संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।'' ऋषि दयानन्द का विश्वास था कि वेदों के अध्ययन द्वारा ही ऐसा करना सम्भव है। इसलिए दयानन्द भारत को ही नहीं, सम्पूर्ण संसार को अपने धर्म में प्रविष्ट कराना चाहते थे।

तब दयानन्द और उनके आर्य समाज ने हिन्दू समाज को ब्राह्मणों के चंगुल से मुक्त करने का आंदोलन शुरू किया। स्वामीजी चाहते थे कि वह आधुनिक भारत के पथभ्रष्ट बच्चों को वेदों के शानदार युग में वापस ले जाएं, वर्तमान को अतीत के साथ समन्वित करें। दयानन्द ने प्राचीन और आधुनिक दोनों साहित्यों का अध्ययन किया; उन्होंने वेद, उपनिषद, शास्त्र,

रामायण और महाभारत ही नहीं, बल्कि रेलों, टेलिग्राफ व्यवस्था और अन्य अनेक यांत्रिक अन्वेषणों के रूप में भारत में देखे जा सकने वाले आधुनिक युग के विज्ञान और पाश्चात्य चिन्तन का भी अध्ययन किया। अंततः उन्होंने अतीत और वर्तमान, पूर्व और पश्चिम के बीच सामंजस्य बैठाने की युक्ति निकाली। इस प्रकार हिन्दू धर्म के सुधार आंदोलन ने एक सकारात्मक रूप ग्रहण किया। वैदिक धर्म के बारे में दयानन्द के ओजस्वी प्रवचनों ने दुधारी तलवार का काम किया। उसने हिन्दू धर्म को अंधविश्वासों के मकड़जाल से मुक्त किया और साथ ही हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदायों और मतों के बीच घनिष्ठता पैदा करने का काम भी किया। दयानन्द द्वारा अपना अभियान आरम्भ करने पर हिन्दुओं का कट्टरपंथी वर्ग भी अपने को और अधिक सुगठित करने के लिए विवश हुआ। 1875 और 1884 में कलकत्ता में सनातन धर्म रक्षिणी सभा की स्थापना हुई। पंडित शशधर तर्कचूड़ामणि ने प्रचलित हिन्दू कर्मकांडों, मूर्तिपूजा और हिन्दू संस्थाओं के बचाव के लिए अनेक सभाओं का आयोजन किया। 1890 में भारत धर्म महामंडल का गठन हुआ जिसका उद्देश्य धर्म में विचार स्वातंत्र्य का गला घोंटना था। इसका सूत्र वाक्य था धार्मिक कट्टरता और इसके अनुसार मूर्तिपूजा ही सर्वोत्तम प्रकार का धर्म था। हरिद्वार और दिल्ली में सनातन धर्म सभा की स्थापना की गई। मथुरा में स्वामी ज्ञानानंदजी ने निगमागम मंडली की स्थापना की। दयानन्द को और उनकी मृत्यु के बाद आर्य समाज को इन तमाम कट्टरपंथी संगठनों के विरोध का सामना करना पड़ा।

स्वामीजी मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे। भगवान शिव के उपासकों ने ईश्वर की उपासना शुरू कर दी और शिव को उसी ईश्वर के अनेक नामों में से एक नाम के रूप में मानने लगे। 1866 में स्वामीजी अनेक मिशनरियों के सम्पर्क में आए और उनके साथ उनका लम्बा शास्त्रार्थ हुआ। इसी वर्ष हम उन्हें हरिद्वार में मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रवचन करते और यह कहते सुनते हैं कि पवित्र स्थलों की तीर्थ यात्रा और गंगा स्नान का कोई धार्मिक महत्व नहीं है। उन्होंने वैष्णवों के महान धार्मिक ग्रंथ भागवत पुराण को अनैतिक घोषित किया। उन्होंने कहा कि मूर्तिपूजा निर्दोष मिथ्याचरण नहीं, बल्कि निश्चित

रूप से पापपूर्ण कृत्य है। दयानन्द के विचारों से ब्राह्मणों में बड़ा क्षोभ व्याप्त हुआ और वे उनकी कटु आलोचना करने लगे। किन्तु ब्राह्मणों के आक्रमण से दयानन्द का आंदोलन दब नहीं सका। बहु देवतावाद का स्वामीजी ने निर्भीकतापूर्वक खंडन किया और इस बात का समर्थन किया कि अद्वैत मतावलम्बी ईश्वर में जिन गुणों का होना बताया जाता है, उन्हीं गुणों से युक्त केवल एक परमात्मा है। उसने पहले वेदों की रचना की और उसके बाद संसार की सृष्टि की। अतः वेद पृथ्वी से भी प्राचीन हैं और ईश्वर रचित हैं। दयानन्द अपने विचारों को जनता के सम्मुख रखना चाहते थे, अतः उन्होंने पंडितों से संस्कृत में चर्चाएं कीं और शिक्षा संस्थाएं स्थापित कीं। किन्तु उनकी योजना विफल हुई तब दयानन्द ने सार्वजनिक प्रवचनों और ग्रंथों की रचना के द्वारा रूढ़िवादी हिन्दू धर्म पर प्रहार करना आरम्भ किया। यह तरीका ज्यादा सफल रहा। उन्होंने आगरा, ग्वालियर और जयपुर की यात्रा की और पंडितों के साथ होने वाले शास्त्रार्थ में सभी जगह ये सिद्ध करने की कोशिश की कि मूर्तिपूजा वेद सम्मत नहीं है। हमने देखा कि अप्रैल 1876 में हरिद्वार के मेले में उन्होंने दिन-रात मूर्तिपूजा और तीर्थयात्रा की प्रथा पर ऐसा तीव्र प्रहार किया कि विरोध की एक आंधी ही उनके विरुद्ध उठ खड़ी हुई। वाराणसी में काशी-नरेश की अध्क्षता में उनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण शास्त्रार्थ काशी के पंडितों के साथ हुआ। अनेक प्रतिद्वंद्वियों से अकेले निपटते हुए अंत में दयानन्द को इसमें विजय प्राप्त हुई। अपनी पराजय पर पर्दा डालने के लिए महाराजा और पंडितों ने बड़ा बावेला मचाया। काशी के पंडितों ने उनके बहिष्कार की घोषणा कर दी, किन्तु दयानन्द विचलित नहीं हुए। काशी से चलकर रास्ते में सभी बड़े नगरों में रुकते हुए वह कलकत्ता पहुंचे और वहां महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन से मिले। कलकत्ता में उन्होंने अनेक स्थानों पर प्रवचन किए और केशवचन्द्र सेन के साथ वार्तालाप भी किया, लेकिन यहां उन्हें बहुत सफलता नहीं मिली। इलाहाबाद में भी उन्होंने कई प्रवचन किए। फिर वह बम्बई पहुंचे, जहां उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। पुणे में उन्होंने पन्द्रह प्रवचन किए। इनसे सनातनी ब्राह्मणों में ऐसी घबराहट फैली कि उन्होंने भीड़ को उत्तेजित करके स्वामीजी पर हमला ही करा दिया। इसके

बाद उन्होंने दिल्ली में प्रवचन किए। लाहौर में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की और एक सफल आंदोलन के रूप में उसे आगे बढ़ाया।

ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त करने का उनका प्रयास 'वेदों की ओर लौटो' के विचार से ही सम्बंधित था। दयानन्द अनुभव करते थे कि ब्राह्मणों ने अपना जो गढ़ खड़ा कर लिया है, वही हिन्दू धर्म में घुसी बुराइयों की जड़ है। अतः उन्होंने बिना किसी लाग-लपेट के स्पष्ट सत्य बोलने का संकल्प कर लिया। उन्होंने इस गढ़ की जड़ों को हिला डालने का फैसला किया। उन्होंने केवल जन्म के आधार पर प्राप्त ब्राह्मणों के अधिकार पर शंका व्यक्त की। ब्राह्मणों ने अपने अधिकारों को शास्त्र सम्मत बताने के लिए मनु संहिता आदि का सहारा लिया, किन्तु स्वामीजी ने स्वयं मनु का ही प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि ब्राह्मण को वेदों का ज्ञाता होना चाहिए और जो व्यक्ति इस स्तर तक नहीं पहुंच पाता, वह ब्राह्मण कहलाने के योग्य नहीं है। उन्होंने अध्याय और श्लोक उद्धृत करके अपनी बात को सिद्ध किया और जिन ग्रंथों को ब्राह्मणों ने अपने पक्ष के समर्थन में पेश किया था उन्हीं ग्रंथों से सिद्ध किया कि प्राचीन काल में गैर ब्राह्मण माता-पिता की संतान भी ज्ञानार्जन करके और सात्विक जीवन अपना कर ब्राह्मण का पद प्राप्त कर सकती थी, तथा ब्राह्मण माता-पिता की संतान भी योग्यता न होने पर नीचे स्थान पर पहुंच जाती थी। उन्होंने कहा कि जन्मना ब्राह्मण एक साधारण मनुष्य होता है जिसको ब्राह्मण का पद प्राप्त करने की योग्यता अर्जित करने के लिए उन लोगों की अपेक्षा ज्यादा अवसर सुलभ होते हैं जिनके माता-पिता ब्राह्मण नहीं हैं, किन्तु इन लोगों को भी वांछित योग्यता प्राप्त कर लेने पर ब्राह्मण का दर्जा प्राप्त करने का समान अधिकार है। उन्होंने कहा कि ब्राह्मण की ईश्वर जैसी पूजा नहीं की जानी चाहिए। ब्राह्मण तो मात्र एक नेता है, शिक्षक है, मार्गदर्शक है, आदर्श है, दार्शनिक है। वेदों पर ब्राह्मणों के एकाधिकार का भी स्वामीजी ने विरोध किया और जाति, रंग, धर्म के किसी भेद के बिना सभी से वेदों का अध्ययन करने का आग्रह किया। स्वामीजी के इसी क्रांतिकारी अभियान का परिणाम है कि आज हिन्दुओं में सभी वर्ग के लोग वेदों का अध्ययन-मनन करते हैं, उस पर टीका-टिप्पणी करते हैं। भारत में धार्मिक, बौद्धिक और सामाजिक

स्वतंत्रता की दिशा में स्वामी दयानन्द और उनके आर्य समाज द्वारा की गई यह अत्यंत महत्वपूर्ण सेवा है और केवल यही एक बात उन्हें हिन्दू धर्म का रक्षक कहलाने का अधिकारी बनाती है।

दयानन्द ने ब्राह्मणों द्वारा की गई वेदों की गलत व्याख्या का भी विरोध किया। वेदों में चार वर्णों के नामों का उल्लेख है। वर्ण शब्द के अर्थ के बारे में दो मत है। संस्कृत के 'वृ' मूल से बने इस शब्द का अर्थ है व्यवसाय का चुनाव। अतः इसका अर्थ है कि समाज में अपनी क्षमता और अपनी पसंद के अनुसार स्थान चुनना। इस प्रकार एक सहज और स्वतः स्फूर्त श्रम-विभाजन और समन्वयन हो जाता है जो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के सुचारू गठन के लिए आवश्यक है। किन्तु वर्ण शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है। वह है रंग। बाद में ब्राह्मणों ने इसी अर्थ को स्वीकार कर लिया। रंग के अर्थ में प्रयुक्त शब्द वर्ण ही कालांतर में जाति प्रथा का आधार बन गया। दयानन्द ने रंग पर आधारित जाति प्रथा को अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने यजुर्वेद के एक मंत्र को दृष्टांत के रूप में प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत।

(अभी तक इस मंत्र का जो अर्थ किया जाता है वह इस प्रकार था: ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पैर से शूद्र का जन्म हुआ है) दयानन्द ने कहा कि यह अर्थ बिलकुल गलत और भ्रष्ट है। उन्होंने सही अर्थ इस प्रकार किया: समाज में ब्राह्मण का वही स्थान है जो शरीर में मुख का है, क्षत्रिय का समाज में वही स्थान है जो शरीर में भुजा का है, आदि।

स्वामीजी ने सिद्ध किया कि सम्पूर्ण समाज एक शरीर की भांति है जिसके चार मुख्य अंग है– मुख, भुजा, जंघा और पद। जिस प्रकार सारे शरीर के कल्याण के लिए ये चारों अंग अलग-अलग काम करते हैं और साथ ही अपना कल्याण भी करते हैं, ठीक उसी प्रकार मानव-समाज को भी चार प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो क्रमशः बुद्धि, शक्ति, धन और श्रम के प्रतीक हैं। जो पहला काम करते हैं, वे ब्राह्मण हैं; जो रक्षा करते

हैं, वे क्षत्रिय हैं; जो धन अर्जन करते हैं वे वैश्य हैं और जो श्रम से उत्पादन करते हैं, वे शूद्र हैं। दूसरे शब्दों में, समाज ने कुछ लोगों को ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन के लिए अलग कर दिया। बाहरी शत्रुओं और आंतरिक अव्यवस्था का मुकाबला करने के लिए कुछ दूसरे लोगों को नियुक्त किया गया। कुछ लोगों को व्यापार-वाणिज्य के लिए और कुछ को खेती-बाड़ी के लिए नियुक्त किया गया। ये ही चार वर्ण समाज में थे, जिन्हें जाति के साथ नहीं मिलाना चाहिए। वर्ण धर्म को स्वामीजी एक राजनीतिक संस्था या व्यवस्था मानते थे जो शासकों ने समाज के कल्याण के लिए बनाई थी। यह भेद किसी धर्म या प्रकृति द्वारा नहीं किया गया है। वर्ण व्यवसाय समूह थे, जिन्हें राज्य ने विभिन्न कार्यों के सुचारु सम्पादन के लिए स्थापित किया था। दयानन्द का मत था कि शूद्र परिवार में पैदा होने वाला कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य हो सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य परिवार में जन्म लेने वाला कोई भी व्यक्ति अपनी प्रकृति, रुचि, कर्म और योग्यता के अनुसार शूद्र हो सकता है। इसका अर्थ है कि मनुष्य उसी वर्ण का होता है, जिसकी उसमें योग्यता हो।

दयानन्द ने निर्भीकतापूर्वक दावा किया कि हिन्दू धर्म सर्वोत्तम पौरुष, सम्पूर्ण गरिमा और स्वाधीनता का उद्घोषक है। हिन्दू धर्म सभी धर्मों के ऊपर ही रहेगा क्योंकि उसकी शिक्षाएं रचनात्मक और युगानुकूल हैं। स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित यह धर्म राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति का एक समर्थ साधन बन गया क्योंकि वह अंदर-ही-अंदर उन शक्तियों के साथ होता जा रहा था जो राष्ट्र-निर्माण में लगी हुई थीं। आर्य समाज और उसके संस्थापक ने भारत की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न किया और युवकों में देशभक्ति तथा राष्ट्रप्रेम की भावना भरने का महान कार्य किया। वेलेन्टाइन किरोल ने लिखा है: ''आर्य समाज एक अर्थ में हिन्दुओं की कट्टरता के विरुद्ध विद्रोह था, लेकिन दूसरी ओर वह पाश्चात्य आदर्शों के विरुद्ध भी विद्रोह का प्रतीक था, क्योंकि अपने संस्थापक की शिक्षाओं में आर्य समाज को एक आक्रामक 'संदेश' भी मिला है, जो हिन्दुओं की श्रेष्ठता मानवीय और दैवी ज्ञान के अंतिम स्रोत वेदों पर उनके एकाधिकार को आधारित करता है।''

भारतीय धर्म को सशक्त बनाने के लिए दयानन्द और उनके समाज ने सभी व्यक्तियों को शुद्धि के जरिए आर्य धर्म में शामिल किया, चाहे वे मुसलमान हों, ईसाई हों या नीची जाति के हों। इस दृष्टि से आर्य समाज का रवैया बिलकुल आधुनिक, भारतीय और उन्मुक्त था। ईसाई और इस्लामी सर्वमुक्तिवाद इन धर्मों के सर्वमुक्तिवादी धर्म ग्रंथ बाइबिल और कुरान पर आधारित है। दयानन्द वेदों के अचूक सर्वमुक्तिवाद पर भारतीय समाज और भारतीय राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे। अतः उन्होंने बाइबिल या कुरान को कोई महत्व न देते हुए पाश्चात्य प्रभाव का प्रतिरोध प्राचीन भारत के वेदों की सहायता से किया। इस स्वदेशोन्मुखी विचार ने भारत में राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने में जबर्दस्त योग दिया।

स्वामी दयानन्द का विश्वास था कि ईश्वर ने वेदों का ज्ञान मानव जाति के कल्याण और मार्गदर्शन के लिए दिया है। इसमें मनुष्य के लिए वह सारा जीवनोपयोगी ज्ञान, विभिन्न विज्ञानों और कलाओं आदि के वे सभी बुनियादी तत्व मौजूद हैं जिन्हें आज हम संसार में विकसित हुआ देखते हैं। अर्थात वेद ही सारे ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत हैं और हमेशा रहेंगे। अपनी 'ऋगवेदादि भाष्य भूमिका' में दयानन्द ने इस बात की पुष्टि में मंत्रों का उद्धरण दिया है। स्वामीजी के इस मत का समर्थन इस तथ्य से मिलता था कि (1) वेद मानव-रचित नहीं बल्कि ईश्वर प्रदत्त हैं और इनका उद्देश्य मानव जाति का मार्गदर्शन करना है (2) ईश्वर का उद्देश्य मानव जाति की सहायता करना था। पांच हजार वर्षों के बाद दयानन्द ही वह सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने वेदों को संस्कृत साहित्य के अम्बार में से अलग निकाल कर वैदिक व्याक़रण और वैदिक पारिभाषिक शब्दावली की सहायता से उनका अध्ययन किया और इस अध्ययन का परिणाम उन्होंने मानव समाज के सामने प्रस्तुत किया। वेदों की वैज्ञानिक विधि से परिभाषा करने का प्रयत्न करने वाले वह प्रथम व्यक्ति थे। उनका यह दावा असंगत या ऊटपटांग नहीं है कि वेदों में विज्ञान और कला सम्वंधी ज्ञान मौजूद है। श्री अरविन्द ने अपने ग्रन्थ 'बंकिम, तिलक एंड दयानन्द' में कहा है : "दयानन्द ने इस बात की पुष्टि की है कि आधुनिक भौतिक विज्ञान के सत्य वैदिक मंत्रों में मिलते हैं। यहां एक बुनियादी सिद्धांत के बारे में अकेला मुद्दा मिलता है

जिस पर किसी को शंका हो तो अनुचित नहीं है। इस मामले में मैं कोई निश्चित मत व्यक्त करने में अपनी असमर्थता स्वीकार करता हूं। लेकिन प्राचीन जगत के बारे में हमें हाल में जो जानकारी मिल रही है, उनसे स्वामी दयानन्द के विचारों को उत्तरोत्तर समर्थन मिल रहा है। प्राचीन सभ्यता निश्चय ही विज्ञान के ऐसे रहस्यों से परिचित थी जिनमें से कुछ को आधुनिक ज्ञान ने फिर से जाना, विस्तृत किया तथा समृद्ध और सटीक बनाया है। लेकिन अभी भी बहुत से ज्ञान की जानकारी हमें नहीं है। अतः दयानन्द के इस विचार में कोई विचित्र बात नहीं है कि वेदों में धर्म का सत्य तथा विज्ञान और कला का ज्ञान निहित है। वह आगे लिखते हैं: ''यदि वैदिक ईश्वरत्व एक ऐसे परमदेव की शक्तियों का वर्णन करते हैं जो सफल, ब्रह्माण्ड का स्रष्टा, शासक और पिता है,तब वेदों में ब्रह्माण्ड विज्ञान, सृष्टि और विश्व-व्यवस्था के नियम आदि के बारे में काफी कुछ होगा। दयानन्द वेदों में ऐसे सार्वभौम तत्व होने का दावा करते हैं। उन्होंने वेदों में सृष्टि के रहस्य और प्रकृति के नियम पाए हैं जिनके द्वारा वह सर्वव्यापी सत्ता संसार का संचालन करती है।''

ई.डी. मैकलेगन के अनुसार वेदों में सभी विज्ञानों के बुनियादी सिद्धांत मौजूद हैं। इस तरह वह भी स्वामी दयानन्द के मत का समर्थन करते हैं। दैवी ज्ञान होने के कारण वेदों में अस्तित्व के विभिन्न विभागों के नियमों का निरूपण किया गया है जिसमें व्यक्तियों और स्थानों का उल्लेख नहीं है। ब्रह्माण्ड विज्ञान में अन्य बातों के अलावा पृथ्वी के आकार-प्रकार, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों की प्रकृति और उनके कार्य, पारस्परिक सम्बंधों और उनके संचरण आदि का भी उल्लेख है। ब्रह्माण्ड विज्ञान के नियमों में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का और पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर घूमने तथा स्वयं अपनी धुरी पर घूमने का उल्लेख भी है। ऋग्वेद में उनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है: ''सभी ग्रह, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी आदि अपनी-अपनी कक्षा में घूमते हैं। पृथ्वी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है। वह अपने ऊपर रहने वाले प्राणियों को प्रचुर मात्रा में विभिन्न प्रकार के रस और फल प्रदान करती है और अपनी गति के निर्धारित नियमों का पालन करती है।'' ग्रहों और नक्षत्रों के बारे में यजुर्वेद में कहा गया है:

''सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी ब्रह्माण्ड में अपने-अपने कक्ष में घूमते हैं। जल (समुद्र) पृथ्वी की माता के समान है और सूर्य पृथ्वी के पिता के समान। वह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। वायु, सूर्य और अंतरिक्ष का पिता है और पृथ्वी उसकी मां है। सूर्य उनमें ही चक्कर लगाता है। सभी ग्रहों और नक्षत्रों का आलम्बन वायु है और वायु तथा उसकी आकर्षण शक्ति के द्वारा ही वे घूमते हैं।'' ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि सूर्य न कभी उदित होता है और न अस्त होता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि चन्द्र अपने प्रकाश के लिए सूर्य पर निर्भर है। मंत्र में कहा गया है कि प्रकाशवान पिण्ड सूर्य और अंधकारपूर्ण पिण्ड चन्द्र और पृथ्वी सदा घूमते रहते हैं। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि विभिन्न ग्रह सूर्य की आकर्षण शक्ति से अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का तो बारम्बार उल्लेख है ही, इन वेदों में यह भी कहा गया है कि रंग और आकार सूर्य की किरणों के कारण ही देखे जा सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में ऋग्वेद और यजुर्वेद के कई मंत्रों के दृष्टांत देते हुए लिखा है कि इनमें ज्यामिति और बीजगणित का उल्लेख है। इनमें समुद्र में भाप से चलने वाली नौका, वायुयान और जमीन पर चलने वाली वाष्प चालित गाड़ी का उल्लेख है। भूमि, जल और आकाश के लिए तीन प्रकार के वाहनों के निर्माण में चांदी, लोहे और तांबे का उपयोग करने की बात कही गई है। समुद्रों को जलयान से पार करना चाहिए। जिस प्रकार मन बहुत द्रुत गति से चलता है उसी प्रकार समुद्र और आकाश में द्रुत गति से यात्रा करने के लिए यानों का निर्माण किया जाना चाहिए। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में विद्युत लहरियों के बारे में जानकारी दी गई है जो बाद में तारसंचार के रूप में विकसित हुई।

वेदों और अन्य आर्ष साहित्य में प्रयुक्त वाक्य और नाम वैज्ञानिक तथ्यों की जानकारी देते हैं। शनि को सूर्यपुत्र और तड़ित को इन्द्रवज्र कहा गया है। किन्तु दुर्भाग्य से धनुर्वेद तथा तत्सम्बंधी साहित्य अलभ्य है और यह नहीं पता चलता कि वेदों में उल्लिखित सिद्धांतों से युद्धास्त्रों का विकास किस प्रकार हुआ। युद्ध विज्ञान ने प्राचीन भारत में काफी विकास किया था। यूनानी लेखक थिमिस्टस ने भारतीयों द्वारा तड़ित और घन गर्जन के साथ

दूरी से ही युद्ध करने की बात कही है। सिकंदर ने अपनी फौजों पर भारत में भयंकर तड़ित प्रहारों की वर्षा होने का उल्लेख किया है। फिलोस्ट्रेट्स ने लिखा है कि भारतीय लोग शत्रु को आंधी-तूफान पैदा करके भगा देते हैं। इसी भारत में प्रक्षेपास्त्रों का भी प्रयोग होता था। विल्सन नामक विद्वान का मत है कि राकेट का जन्म भारत में ही हुआ और यूरोपीय जब पहले-पहल उनके सम्पर्क में आए तब भारतीय सेनाओं ने इनका उपयोग किया था। रामायण में इनका उल्लेख मिलता है। कई विद्वानों ने भारतीयों द्वारा एक ऐसा तेल बनाने की बात लिखी है जिसका प्रयोग नगरों की प्राचीर और किलों की बुर्जियां ध्वस्त करने के लिए किया जाता था।

इसका अर्थ यह नहीं है कि आधुनिक विज्ञान ने यूरोप और अमरीका में जो कुछ उपलब्धियां की हैं, उन सबके सिद्धांत या व्यावहारिक पक्ष की जानकारी वेदों में मौजूद है और न इसका यही मतलब है कि प्राचीन भारत में रेलवे, टेलीग्राफ, टेलीफोन, वायरलेस, रेडियो, स्टीमर सेवाएं और विमान सेवाएं भी उसी रूप में मौजूद थीं जिस रूप में वे यूरोप और अमरीका में मौजूद हैं, अथवा मशीनगन, टैंक, बमवर्षक और लड़ाकू विमान और यंत्रादि जिस तरह पश्चिम के देशों में हैं, उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी थे। मैकेनिकल, रासायनिक और अन्य विज्ञानों ने पिछली और इस सदी के दौरान बहुत आश्चर्यजनक प्रगति की है और मनुष्य के दैनिक जीवन में उनकी सेवाएं उपयोगी सिद्ध हो रही हैं। सम्भवतः ये सारी चीजें प्राचीन काल में मौजूद नहीं थीं। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वेदों में ब्रह्माण्ड विज्ञान के बुनियादी सिद्धांत, पदार्थ और आत्मा की सम्भाव्य क्षमताओं का ज्ञान है जिन्हें मनुष्य किसी भी सीमा तक विकसित कर सकता है। यह दावा किसी का नहीं है कि वेदों में आज के पूर्ण विकसित विज्ञानों या कलाओं का ज्ञान मौजूद है। दावा इस बात का अवश्य है कि वेदों में वह ज्ञान मौजूद है जो अभौतिक क्षेत्र में इंद्रियों की पहुंच के बाहर है, और भौतिक क्षेत्र में वह ज्ञान मौजूद है जिनका मनुष्य अपने लाभ के लिए अपरिमित सीमा तक उपयोग कर सकता है।

वेदों में उच्चतम दार्शनिक विचार मौजूद हैं जिनकी संसार में अन्यत्र कहीं कल्पना भी नहीं की गई है। आयुर्वेद, धनुर्वेद, अथर्ववेद, गांधर्ववेद

आदि में अनेक अन्य सिद्धांत हैं जिनका आधुनिक समय में बहुत विकास हुआ है और आगे विकास की अकल्पनीय सम्भावनाएं हैं। ये अद्‌भुत दार्शनिक विचार वे हैं जिनको उपनिषदों में ऋषियों और मुनियों ने और आगे विकसित किया था। वेद ईश्वरीय हैं और इनमें निहित ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। वेदों की शिक्षा के अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य की कल्पना, दृष्टि और विचारों का विकास होने पर निश्चय ही ऐसे उच्चतर सत्य और वैज्ञानिक परिणाम प्राप्त होंगे जो आज अकल्पनीय हैं। ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। संसार निरंतर चलता रहता है। विनाश और सृष्टि का क्रम अनवरत चलता रहता है। वेदों के बारे में दयानन्द का ज्ञान, ज्ञान की अंतिम सीढ़ी नहीं है। हम यही कह सकते हैं कि उनका ज्ञान सही और सच्चा था। आधुनिक युग में वेदों का भाष्य करने वाले वह पहले व्यक्ति थे, लेकिन अंतिम नहीं। आगे भी ऐसे ऋषि होंगे जो वेदों में निहित पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे। श्री शारदा के अनुसार, ''ज्ञान के उस अपार समुद्र में खोज की नौका को सही दिशा में ले जाने वाले दयानन्द इस युग के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने वैज्ञानिक पद्धति अपनाई। इस खोज में आगे प्रवृत्त होने वाले यदि उन्हें अपना मार्गदर्शक मान कर चलेंगे तो अवश्य ही इस खोजयात्रा में सुरक्षित आगे बढ़ सकेंगे।''

दयानन्द के विचारों का सार-संक्षेप यही निकलता है कि वह पश्चिम का कोई भी ऋण भारत पर मानने को कदापि तैयार नहीं थे। धर्म या आत्मा के क्षेत्र में प्राचीन भारत जिन ऊंचाइयों का स्पर्श कर चुका था, उस तक पश्चिम के विचारक नहीं पहुंच सके थे, और उन्हें अभी भी इस क्षेत्र में भारत के ऋषियों से बहुत कुछ सीखना था। मुख्य बात यह थी कि दयानन्द 'राष्ट्रीय धर्म' के पक्षधर थे। ईसाई धर्म और इस्लाम हिन्दू धर्म में घातक हस्तक्षेप कर रहे थे इसलिए दयानन्द ने राष्ट्रीय धर्म का प्रतिपादन किया जिसके अभाव में भारत उनके स्वप्नों का भारत नहीं रह सकता था। वेदों के अमोघ ज्ञान पर वह भारतीय समाज और भारतीय धर्म को आधारित करना चाहते थे। 'सत्यार्थ प्रकाश' में इस राष्ट्रीय धर्म की स्पष्ट रूप से चर्चा की गई है। यह उनके जीवन का महान स्वप्न था। राष्ट्रीय धर्म का विचार करते हुए दयानन्द ने भारतीयों से सामाजिक-धार्मिक निर्योग्यताएं समाप्त करने

और वेदों की शिक्षा पर आधारित एक ऐसी समाज व्यवस्था स्थापित करने का आह्वान किया जो कुछ अर्थों में 'स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे' के प्रगतिवादी फ्रांसीसी नारे से प्रेरित आदर्शवाद से भी श्रेष्ठ था। उनका विश्वास था कि एक शुद्धतर धर्म या शुद्धतर सामाजिक व्यवस्था के लिए भारत को पश्चिम की ओर देखने की जरूरत नहीं है। वह इस देश के प्राचीन धर्मग्रंथों में पहले ही मौजूद है। यह वास्तव में शुरूआत थी भारतीयों के बीच राष्ट्रीय, धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण के लिए उस क्रांति की, जिससे हमारी वर्तमान राष्ट्रीय चेतना का जन्म हुआ।

राष्ट्रीय धर्म की स्थापना के बारे में ब्रह्म समाज और आर्य समाज के बीच मतभेद है। ब्रह्म समाज के सुधारक पुराने धर्म को शुद्ध करना चाहते थे किन्तु उनकी मानसिक रचना ऐसी थी कि वे इस सुधार-आंदोलन को एक व्यक्तिवादी स्वरूप देना चाहते थे। ब्रह्म समाज पाश्चात्य धर्म या संस्कृति के प्रभाव को कम करने में सफल नहीं हुआ। वह हिन्दू धर्म की धर्मान्धता, अंधविश्वासों और असंगतियों के विरुद्ध उठाया गया विरोधी स्वर मात्र था। उसने पाश्चात्य संस्कृति की अपूर्णताओं को उजागर करने का डटकर कोई प्रयास नहीं किया। इसके बाद स्वामी विवेकानंद इस ध्वज को लेकर आगे बढ़े और उन्होंने पाश्चात्य भौतिकवाद के मुकाबले भारत की आध्यात्मिक श्रेष्ठता सिद्ध की और इस प्रकार दयानन्द के इस मंतव्य की पुष्टि की कि भारत में एक ऐसे राष्ट्रीय धर्म की आवश्यकता है जो निर्दोष होगा और जो विभिन्न मत-मतांतरों को एक सूत्र में पिरोएगा। वेदों में अपनी अविचल श्रद्धा और राष्ट्रीय वर्ग पर आधारित भारतीय संस्कृति में उनके अडिग विश्वास ने ही उन्हें 'वेदों की ओर लौटो' का नारा देने के लिए प्रेरित किया था। उनका विश्वास था कि आर्य समाज और वैदिक धर्म, दोनों ही सरल और लोगों को बौद्धिक रूप से अपनी ओर आकृष्ट करने वाले होंगे, सामान्य जन और प्रबुद्ध जन, दोनों के लिए वह उपयुक्त होंगे। दयानन्द और उनके समाज को राष्ट्रीय धर्म का विचार लोकप्रिय बनाने में सफलता मिली क्योंकि उसमें दो ऐसी बातें थीं जिनके कारण लोगों ने वैदिक धर्म के महान गुणों को स्वीकार लिया। पहली बात तो स्वयं इस धर्म के संस्थापक की थी। दूसरी बात यह थी कि आर्य समाज के पहली पीढ़ी के अनुयायियों ने स्वामीजी की

शिक्षाओं को ईमानदारी से कार्यरूप में परिणत करके दिखाया है। आर्य समाज एक ऐसा प्रभावी संगठन था जिसने भारतीय धार्मिक व्यवस्थाओं को प्रतिष्ठित किया जो 'सेक्सन' के आने से पहले इंग्लैंड में भी विद्यमान थीं। वह इतिहास में एक ऐसा अज्ञात युग था जिससे राष्ट्रीयता की भावना को कोई प्रेरणा नहीं मिल सकी। किन्तु प्राचीन इतिहास को शोधकर्ताओं द्वारा प्रकाश में लाए जाने पर आर्य समाज की विचारधारा को उसी प्राचीन राष्ट्रीय आदर्श का पुनः प्रवर्तन माना जाएगा जो कि सारभौम आदर्श था।

संक्षेप में, वैदिक धर्म या राष्ट्रीय धर्म का प्रचार करके दयानन्द ने भारतीय राष्ट्रवाद को स्वदेशी दृष्टिकोण प्रदान किया। उनका उद्देश्य ईसाई और इस्लाम धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध भारत को संगठित करना तथा वेदों द्वारा प्रतिपादित पारम्परिक विचारधारा को सुरक्षित करना था। उनका दृढ़ विश्वास था कि आर्य जाति सर्वश्रेष्ठ जाति है, वेद सर्वश्रेष्ठ धार्मिक ग्रंथ हैं और भारत विश्व में सबसे महान देश है। (वह भारत की धरती से विदेशी मान्यताओं को हटाने के पक्ष में थे।) उनको ऐसी अनेक मान्यताओं का सामना करना पड़ा जो राष्ट्रीय धर्म और राष्ट्रीय गौरव को नष्ट कर रही थीं। दयानन्द शायद मार्टिन लूथर से भी कहीं अधिक युगद्रष्टा थे। इस्लाम, ईसाई धर्म, यहां तक कि स्वयं हिन्दू धर्म उनके सामने एक बड़ी समस्या पैदा कर रहे थे। इन सभी बाधाओं का उन्हें सामना करना पड़ा। अंततः वह ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से मुक्त हो गए, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मार्टिन लूथर रोमन धर्म की सत्ता से मुक्त हो गया था। लूथर का कहना था: "बाइबिल की ओर लौटो"। दयानन्द का नारा था: "वेदों की ओर लौटो"। इस नारे के साथ ही जुड़ा हुआ एक अप्रत्यक्ष नारा था: "भारत भारतवासियों का।" लूथर धर्म को ही धर्म के पंडों के चंगुल से मुक्त करना चाहता था, लेकिन दयानन्द चाहते थे कि धर्म ही नहीं, भारत भी भारतवासियों का ही रहे। पहले लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वेदों की ओर लौट कर भारतीय धर्म को शुद्ध करना और उसमें सुधार लाना जरूरी था। दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दयानन्द ने बताया कि वेदों की बुनियादी शिक्षाओं पर चलकर भारत स्वशासन के योग्य बनेगा और अंततः उन्हें स्वराज्य प्राप्त होगा। ग्रिस्वोल्ड ने लिखा है: "उनका (स्वामी दयानन्द का)

स्वप्न एक महान् स्वप्न था। उनकी कल्पना एक ऐसे भारत की थी जो अंधविश्वासों से मुक्त होगा, जहां विज्ञान के वरदान भरपूर मात्रा में सबको सुलभ होंगे, जहां केवल एक परमात्मा की पूजा होगी, जो स्वराज्य के लिए सर्वथा समर्थ होगा, जिसे विश्व देशों के बीच अपना उचित स्थान प्राप्त होगा और जिसे अपना प्राचीन गौरव फिर से प्राप्त होगा।" यह सब प्राप्त करने के लिए युगों पुराने सभी अंधविश्वासों का उन्मूलन करके वेदों की विशुद्ध वैज्ञानिक और ईश्वर-प्रेरित शिक्षाओं की ओर वापस लौटना जरूरी था।

सामाजिक पुनर्निर्माण

दयानन्द सरस्वती विशुद्ध राष्ट्रवादी थे। उनके सम्पूर्ण कार्यक्रम का एकमात्र लक्ष्य और ध्येय राष्ट्र के जीवन में सर्वतोमुखी प्रगति और विकास लाना था। किन्तु वह अच्छी तरह जानते थे कि दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन लाए बिना वास्तविक परिवर्तन ला पाना असम्भव है। अतः उनके सामने और आर्य समाज के सामने जो कठिन कार्य था, वह था सामाजिक नवनिर्माण की समस्या से निपटने का। इसके लिए सबसे पहले देश की मौजूदा स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक था। ब्रिटिश शासन के प्रभाव से जिन नई शक्तियों का जन्म हुआ, उनको उनके गुणावगुण के आधार पर मूल्यांकन करने के बाद आत्मसात करना था या उनको अस्वीकार करना था। जिन परिस्थितियों में अब भारतीय समाज अपने को पा रहा था इसका विवेचनात्मक अध्ययन शिक्षित भारतीयों ने करना शुरू किया। उनके सामने जो समस्या उपस्थित थी, वह नए और पुराने के बीच तालमेल स्थापित करने और पूर्व और पश्चिम का ऐसा मेल स्थापित करने की थी जिससे कि भारत नवजीवन प्राप्त कर सके। इस समस्या से निपटने के लिए स्वामीजी और आर्य समाज ने सामाजिक बुराइयों के ऊपर सीधा प्रहार किया।

अठारहवीं शताब्दी में भारत में सभी क्षेत्रों में अवनति हुई थी। प्राचीन काल में भारत विश्व का गुरु रहा था और यहां की सभ्यता और संस्कृति बहुत ऊंची थी। श्रीमती मैनिंग के कथनानुसार हिन्दुओं का मानसिक और बौद्धिक विस्तार अपनी चरम सीमा तक हो चुका था। वीरता, सम्मान और सत्यनिष्ठा जैसे चारित्रिक गुण उनमें कूट-कूट कर भरे हुए थे। कालांतर में उनका पतन होने लगा और वे उन ऊंचे आदर्शों को भूलने लगे जो उन्होंने दुनिया को सिखाए थे। उन्होंने अपनी समृद्ध और अमूल्य धरोहर लुटानी

शुरू कर दी और शरीर तथा बुद्धिबल में कमजोर हो गए। आर्यावर्त आपसी फूट का शिकार हो गया। वही भारतवासी, जो आध्यात्मिक गौरव और भौतिक समृद्धि के शिखर पर पहुंच गए थे, बुरी तरह विभाजित हो गए, दुर्बल और अज्ञानी बन गए। विदेशी आक्रमणों से अपनी, अपने धर्मग्रंथों, अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपनी राष्ट्रीय एकता की रक्षा करने में असमर्थ हो गए।

ब्राह्मणों ने लोगों के जीवन को पूरी तरह अपने शिकंजे में जकड़ लिया था। स्तवंत्र विचार और कार्य की सारी शक्ति समाप्त हो गई थी। जाति-प्रथा के बढते हुए भयानक जाल में फंसकर, जिसमें अंतर्जातीय विवाह, अंतर्भोज तथा अन्य मामलों में अत्यंत कठोर निषेधों का प्रवेश हो गया था, व्यक्तियों और समाज की आशा और आकांक्षाएं दम तोड़ रही थीं। हिन्दू समाज में बाल विवाह का प्रचलन आम हो गया। अपने पतियों के युवावस्था प्राप्त करने से पहले ही हजारों लड़कियां विधवा हो जाती थीं। ऊंची जातियों की ये विधवाएं पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं और उनकी दशा अत्यंत दयनीय थी। हिन्दुओं और मुसलमानों के अनेक वर्गों में बहुपत्नी प्रथा थी। समाज में स्त्रियों की स्थिति बड़ी खराब थी। हिन्दुओं और मुसलमानों में पर्दे की प्रथा थी। ऊंची जाति की स्त्रियां घरों से बाहर मुंह खोलकर नहीं निकल सकती थीं। ऐसी ही खराब दशा नीची समझी जाने वाली जातियों की थी। शूद्रों को अछूत समझा जाता था और उनकी छाया मात्र के स्पर्श से ही ब्राह्मण अपवित्र हो जाते थे। उन्हें अलग बस्तियों में रहना पड़ता था। वे न स्कूल जा सकते थे, न गांव के कुएं से पानी भर सकते थे और न ऊंची जाति वालों के साथ मिल-बैठ सकते थे। इन सब बुराइयों के साथ ही, दूसरी ओर, अंग्रेजी शिक्षा भारतीयों के दिमाग में जहर घोल रही थी। इसका उद्देश्य लोगों में धार्मिकता की भावना का नाश करना और हिन्दू धर्म की जड़ें खोदना था। इन सब चीजों को देखते हुए दयानन्द और उनके आर्य समाज ने भारतीय समाज की समस्त बुराइयों पर चहुं ओर से आक्रमण किया।

दयानन्द ने जब आखें खोली थीं, उन्हें देश की घोर दुर्दशा देखने को मिली थी। चारों ओर अंधविश्वास और अज्ञान का बोलबाला था, पूर्वाग्रहों

और स्वार्थों के कारण समाज फूट और वैमनस्य का शिकार था। इस तरह खंडों में विभाजित समाज में सामाजिक बुराइयों का नंगा नाच हो रहा था। अतः उन्होंने यह सब बदल कर एक बिलकुल नए समाज का निर्माण करने का संकल्प किया।

दयानन्द ने जाति प्रथा की ओर एक नए दृष्टिकोण से देखा। उन्होंने इसे भारत का सबसे बड़ा अभिशाप माना, जिससे पता चलता है कि वह अपने समय के महान दूरद्रष्टा थे। 'पुरुष सूक्त' की गलत व्याख्या पर आधारित यह जाति प्रथा एक ऐसी प्रथा थी, जिसकी उपयोगिता बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी। यह ऐसी शक्ति थी जो भारतीय समाज को नष्ट करने और कैंसर की भांति राष्ट्र के खून में जहर घोलने का काम कर रही थी। उन्हें यह देख बड़ी व्यथा हुई कि अकेली यही एक प्रथा भारत को एक राष्ट्र बनने से रोकने का सबसे बड़ा कारण है। ऊंच-नीच के भेदभाव ने भारत के करोड़ों स्त्री-पुरुषों को ऐसी स्थिति में डाल दिया था, जिनके स्पर्शमात्र को दूषणकारी माना जाता था। इसमें क्या आश्चर्य था कि हजारों लोगों ने मनुष्यों जैसा व्यवहार पाने के लिए अपने पूर्वजों के धर्म का त्याग कर दिया था। दयानन्द ने जाति प्रथा के विरुद्ध अपनी शक्तिशाली आवाज उठाते हुए उसे वेदों की शिक्षा के विरुद्ध बताया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य जैसा व्यवहार पाने, समान समझे जाने और समान अवसर पाने का अधिकार है। शरीर में सिर, भुजा, जांघ और पैर के समान ही समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णों में बांटने की जो सामाजिक व्यवस्था की गई थी उसने एक समय में आर्य समाज को शक्ति प्रदान की थी, बलवान बनाया था। लेकिन अब उसका स्थान इस घृणित जाति प्रथा ने ले लिया था जो वस्तुतः कोई सही सामाजिक प्रणाली थी ही नहीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्राचीन आर्य समाज में एक वर्ण व्यवस्था थी जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आर्य समाज के परस्पर जुड़े हुए और एक दूसरे पर आश्रित अंग थे तथा पूरे समाज के कल्याण में अपना कल्याण मानते थे। दयानन्द ने देखा कि प्रचलित जाति प्रथा इसी वर्ण व्यवस्था का पतित और भ्रष्ट स्वरूप था। प्राचीन वर्ण व्यवस्था का आधार व्यक्ति के गुण, कर्म और स्वभाव से होता था जबकि वर्तमान जाति प्रथा जन्म पर

आधारित थी। पहले कोई व्यक्ति ब्राह्मण होता था तो इसलिए कि योग्यता और प्रवृत्ति के बल पर वह समाज का धार्मिक नेता होने की योग्यता रखता था। आज एक व्यक्ति केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण ही ब्राह्मण होता है, भले ही वह बिलकुल निरक्षर, मूर्ख और दुराचारी क्यों न हो। स्वामीजी ने जब इस जाति प्रथा की दूषित प्रकृति की निंदा की तो कट्टरपंथी हिन्दू बहुत नाराज हुए। ब्राह्मणों और क्षत्रियों की संतान होने के कारण समाज की कोई उपयोगी सेवा किए बिना वे अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा और सम्मान भोग रहे थे। मशीन की कमानी जंग लग कर टूट-फूट गई थी, परंतु फिर भी वह मशीन में लगी हुई उसकी गति को अवरुद्ध किए हुए थी। स्वामीजी ने कहा: ''इस प्रथा को समाप्त करना होगा। जिस व्यक्ति में ब्राह्मण की योग्यता न हो उसे ब्राह्मण की प्रतिष्ठा और सम्मान से वंचित होकर अपने स्तर पर रख दिया जाना चाहिए।'' उन्होंने अपने कथन के समर्थन में वेदों और शास्त्रों से प्रमाण प्रस्तुत किए। उन्होंने वर्णों को व्यर्थ नहीं कहा क्योंकि प्रत्येक समाज को वर्गीकरण की आवश्यकता पड़ती है और वर्ण व्यवस्था सर्वोत्तम है। किन्तु इसका आधार जन्म नहीं होना चाहिए। ब्राह्मण का पुत्र क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो सकता है। इसी प्रकार शूद्र का पुत्र भी ब्राह्मण हो सकता है। जन्म से ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मण पद प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के अनेक उदाहरण प्राचीन भारत में मिलते हैं। सत्यकाम जाबालि एक दासी पुत्र थे। कावश, ऐतरेय एक शुद्र के पुत्र थे किन्तु उन्होंने ब्राह्मण और ऐतरेय उपनिषद की रचना की। वेदांत दर्शन के प्रवक्ता और महाभारत के रचयिता व्यासजी एक मछुआरिन के बेटे थे। वशिष्ठ ऋषि एक वेश्या के बेटे थे। पाराशर ऋषि एक चांडाल स्त्री के पुत्र थे। विश्वामित्र एक क्षत्रिय की संतान थे। अरिष्टसेन, सिंधुद्वीप, देवापि और कपिल ये सभी जन्म से क्षत्रिय थे। अतः दयानन्द ने शिक्षा दी कि समाज की रचना रंग या धर्म के आधार पर नहीं बल्कि गुणों के आधार पर की जानी चाहिए। इस विचार का प्रचार करने और जाति प्रथा का उन्मूलन करने के लिए उन्होंने सारे देश का दौरा किया और धार्मिक सभाओं तथा विद्वानों की गोष्ठियों में भाषण दिए, कई जगह शास्त्रार्थ किए और वर्णाश्रम धर्म के समर्थकों के तर्कों का खंडन करते हुए जाति प्रथा की असमानताओं

और अन्यायों का भंडाफोड़ किया। उनकी बातों का लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। शास्त्रों के प्रमाणों पर आधारित उनकी बातों को अनसुना नहीं किया जा सकता था। अन्य कोई भी व्यक्ति शायद धर्मांध कट्टरपंथियों के आगे टिक नहीं पाता और वे उनकी बातें हंसी-हंसी में उड़ा देते, लेकिन दयानन्द वेदों के ऐसे विद्वान थे जिन्होंने उन्हीं के अस्त्र से उनको परास्त किया था। यह विद्वान वर्णाश्रम को आवश्यक मानता था किन्तु वर्गीकरण के आधार को अमान्य घोषित करता था। प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान डा. काशीप्रसाद जायसवाल के शब्दों में दयानन्द में बुद्ध जैसी मानवीय करुणा थी और शंकराचार्य की सी संरक्षण-प्रवृत्ति। बुद्ध ने जन्म और जाति की असमानता की मिथ्या धारणाओं पर आधारित समूची व्यवस्था को अमान्य करार दिया था और क्रांति का आह्वान किया था। इसके विपरीत, दयानन्द ने पारम्परिक व्यापक आधार वाली वैदिक संस्कृति पर बल दिया, और ऐसा करने में वह शंकर की सीमाओं में भी नहीं बंधे थे। उससे भी ऊपर उठकर उन्होंने जाति के सिद्धांत को मिथ्या, वेदों के विरुद्ध और अभारतीय बताया। तर्क और शास्त्र में शंकर की तरह पारंगत और दुर्द्धर्ष, वेदों के देशमान्य विद्वान और निःस्वार्थ परोपकार की भावना से काम करने वाले दयानन्द के अलावा यदि किसी और व्यक्ति ने मनु और 'पुरुष सूक्त' का विरोध करने वाली ऐसी बातें कही होतीं तो भारतीय समाज उसे सहज स्वीकार नहीं करता। दयानन्द तो अतिमानव सिद्ध हुए। उन्होंने रहस्यवाद, गुरुओं, अवतारवादियों, देवी-देवताओं, पत्थरों की पूजा करने वालों तथा तीर्थ स्थलों की यात्रा करने वालों को अपने अकाट्य तर्कों से पराभूत कर दिया। उन्होंने सड़क चलते साधारण मनुष्य को समाज में उसका गौरवपूर्ण स्थान दिलाया और एक निराधार ईश्वर की उपासना का संदेश दिया। उनका ईश्वर ऐसा स्वामी था जो अपने भक्तों को असहाय दास नहीं बनाता। जिस प्रकार यूरोप में मार्टिन लूथर ने ईसाई धर्म को पोप की निरंकुश सत्ता से मुक्ति दिलाई थी, उसी प्रकार दयानन्द ने हिन्दुओं की आत्मा को उन्मुक्त किया। यह मुक्ति उन्होंने धर्म ग्रंथों के अंदर संकलित शिक्षाओं का सही ज्ञान करा कर दी। दयानन्द ने जाति प्रथा की घोर निंदा करके और सामाजिक न्याय के द्वारा हिन्दू समाज को नवजीवन प्रदान करके जितनी बड़ी सेवा की है उसकी जितनी प्रशंसा की जाए, कम है। दयानन्द के पचास वर्ष बाद

काठियावाड़ के ही एक अन्य सुपुत्र, महात्मा गांधी ने उसी सिद्धांत के लिए आमरण अनशन किया जिसे दयानन्द ने प्रतिपादित किया था।

महात्मा हंसराज, लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानंद जैसे महारथियों और हजारों आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं ने पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा अन्य प्रांतों में दयानन्द सरस्वती के संदेश को न केवल जीवित रखा बल्कि भारत के कोने-कोने में उसे फैलाया। महात्मा हंसराज लाहौर में डी.ए.वी. कालेज के प्रिंसिपल थे और एक जातिहीन समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। लाहौर के डी.ए.वी. कालेज तथा स्कूल ने उन्हें एक उर्वर भूमि प्रदान की जिसमें उन्होंने सामाजिक पुनर्रचना के बीज बोए। कालेज के छात्रालयों में सबके लिए रसोई में भोजन की व्यवस्था थी और अलग-अलग जातियों के 'मेस' चलाने की अनुमति नहीं थी। उनके अंदर एक-दूसरे की जाति जानने की उत्सुकता ही नहीं होती थी। वर्षों एक साथ रहने, साथ पढ़ने और साथ खाने वाले ये छात्र अपने सहपाठी की जाति से अनभिज्ञ ही रहते थे। यह एक क्रांतिकारी परिवर्तन था। हंसराज ने अपने कार्यकर्ता मालाबार भी भेजे जहां उन्होंने स्थानीय जाति प्रथा को जोरदार चुनौती दी। इन कार्यकर्ताओं ने नीची समझी जाने वाली जातियों के लोगों को अपने अधिकारों के लिए अदालतों में मुकदमा लड़ने में मदद की और उनमें यह जागृति पैदा की कि उन्हें भी सार्वजनिक सड़कों का प्रयोग करने का उतना ही अधिकार है जितना कि ब्राह्मणों को है। हंसराज ने श्रम की गरिमा को प्रतिष्ठा दिलाई। हंसराज जी के बहनोई के पुत्र लाला गुरदास राम चड्डा ने 1903 में महात्मा हंसराज की सलाह पर चड्डा लांड्री की स्थापना की, जहां वस्त्रों की धुलाई होती थी। उन्हीं की सलाह पर लाला धनीराम ने जूतों की दुकान खोली। लाला लाजपत रायं ने, जो समाज के एक सक्रिय कार्यकर्ता थे, जाति प्रथा की जबर्दस्त आलोचना की। अपने एक लेख में उन्होंने लिखा: ''इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दू जाति प्रथा की कट्टरता व्यावहारिक और राजनीतिक, दोनों ही दृष्टियों से गलत है। व्यावहारिक दृष्टि से इसलिए कि लोगों में बुराइयों के विरुद्ध एक जुट होकर लड़ने की ताकत नहीं होती। राजनीतिक दृष्टि से इसलिए कि वे स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकते।

दयानन्द सरस्वती ने समानता के सिद्धांत पर अछूतों का दर्जा ऊंचा

उठाया। वह कहा करते थे कि शरीर और मन से स्वस्थ कोई भी शूद्र द्विज (ब्राह्मण) समझे जाने का अधिकारी है। अस्पृश्यता की समस्या के प्रति यह दृष्टिकोण धर्म निरपेक्षता की दिशा में एक और कदम था। सूरजभान ने दयानन्द की व्यावहारिक ईमानदारी की चर्चा करते हुए लिखा है: "एक अछूत दयानन्दजी के लिए कढ़ी और भात लेकर आया था। स्वामीजी ने उसके इस प्रेमोपहार को स्वीकार कर लिया। पास ही खड़े एक ब्राह्मण ने इस पर यह कहते हुए आपत्ति की कि आप इस आदमी द्वारा लाया गया भोजन खाकर अशुद्ध हो गए हैं। दयानन्द ने उत्तर दिया कि भोजन दो ही दशाओं में अशुद्ध होता है। पहला तब, जब वह किसी दूसरे को कष्ट पहुंचा कर प्राप्त किया गया हो, और दूसरे तब, जब उसमें गंदी चीजें मिला दी जाएं। लेकिन यह मनुष्य तो श्रम से रोटी अर्जित करने वाला आदमी था। यह भोजन सर्वोत्तम है।" दयानन्द का विचार था कि भारत के दलितों का उद्धार करना उतना ही जरूरी है जितना कि जाति प्रथा की कठोरता को समाप्त करना। तभी भारत का निर्माण एक ठोस आधार पर किया जा सकता है। अस्पृश्यता का मुख्य कारण बुरा वातावरण, बुरी संगति और बुरी शिक्षा है और इसके फलस्वरूप चरित्र का ह्रास होता है।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अस्पृश्यों की स्थिति सुधारने के लिए आर्य समाज ने अथक कार्य किया। समाज ने ईश्वर को पिता और मनुष्यों को उसकी संतान माना। स्त्री-पुरुष में समानता, मनुष्य-मनुष्य के बीच और राष्ट्रों के बीच न्यायपूर्ण आचरण का सिद्धांत रखा और कहा कि हर व्यक्ति को अपने कार्य, स्वभाव, गुण, योग्यता और प्रेम के आधार पर समान अवसर मिलना चाहिए। इन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए स्वामीजी और समाज ने नीची जातियों के उत्थान-कार्य में बहुत दिलचस्पी ली। इसके लिए दो तरीके अपनाए गए: (1) जिन जातियों को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार नहीं था उन्हें यह अधिकार प्रदान किया गया और (2) अस्पृश्य जातियों को स्पृश्य जातियों के समकक्ष लाकर उन्हें उच्चतर सामाजिक आदर्शों की शिक्षा दी जाने लगी जिसका उद्देश्य यह था कि अंततः वे अन्य हिन्दुओं के साथ बराबरी के स्तर पर आ सकें। इस कार्य के लिए होशियारपुर में 'दयानन्द दलितोद्धार मंडल' की स्थापना की गई।

दयानन्द के विचारों को उनके एक महान शिष्य, लाला लाजपत राय ने कार्यरूप में आगे बढ़ाया। लालाजी ने दलित वर्गों के प्रश्न पर तीन दृष्टियों से विचार किया: (1) हिन्दू जाति के संदर्भ में; (2) अखिल भारतीय महत्व के प्रश्न के रूप में और (3) उसके मानवीय पक्ष को लेकर। उन्होंने कहा: ''यह याद रखने की बात है कि राष्ट्रीय पतन के मूल में ये ही तत्व हैं। यदि हम राष्ट्रीय आत्म-गौरव प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें दलित वर्गों के अपने अभागे भाई-बहनों को बाहें फैला कर अपनाना होगा और उनके अंदर मानव-गरिमा की भावना उत्पन्न करने में सहायक बनना होगा। जब तक हमारे देश में अछूत समझे जाने वाले लाखों लोग मौजूद हैं, तब तक हम अपने राष्ट्रीय मामलों में कोई वास्तविक प्रगति नहीं कर सकते। इस तरह की जाति के लिए उच्च स्तर की नैतिकता जरूरी है, और जिस समाज में कमजोर वर्गों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जाता हो, वहां ऐसी उच्च नैतिकता नहीं हो सकती। मानसिक दासता से बुरी कोई दासता नहीं है और लोगों को गुलाम बनाए रखने से बड़ा और कोई पाप नहीं है। लोगों को गुलाम बनाना बुरी बात है, लेकिन ऐसी परिस्थितियां और दशाएं उत्पन्न करना तो और भी बुरी बात है जिसमें फंस कर वे अपनी दासता के बंधनों को तोड़ने का प्रयास भी नहीं कर सकते।'' उनका दृढ़ विश्वास था कि जब राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अंग ही सूख गया हो तब राष्ट्र सच्ची प्रगति नहीं कर सकता। अतः हिन्दू समाज के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह अछूतों को अपनाए और उनमें शिक्षा का प्रकाश फैलाए। उन्होंने कहा कि यदि दलित वर्गों को मनुष्यों की भांति जीने और उन्नति करने का अवसर दिया गया तो वे हिन्दू धर्म का त्याग नहीं करेंगे, किन्तु यदि मूढ़तावश हिन्दू समाज ऐसा करने में झिझकेगा तो वे ज्यादा दिन तक इस धर्म में नहीं रहेंगे।

इस तरह हम देखते हैं कि दयानन्द ने और उनके अनुयायियों ने दलित वर्गों के लिए बहुत बड़ी सेवा का काम किया है। आर्य समाज ने शुद्धि आंदोलन आरम्भ किया और नीची जाति के हिन्दुओं को इस्लाम या ईसाई धर्म ग्रहण करने से रोक कर उनको हिन्दू धर्म में सम्मानपूर्ण दर्जा दिलाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। शुद्धि आंदोलन का विचार स्वयं स्वामी दयानन्द का था।

शुद्धि का धार्मिक अर्थ है: (1) विधर्मियों को हिन्दू धर्म में दीक्षित करना; (2) जिन हिन्दुओं ने किसी समय दूसरा धर्म ग्रहण कर लिया था, उन्हें या उनकी संतानों को फिर से हिन्दू धर्म में शामिल करना; (3) दलित जातियों का उत्थान।

स्वामी दयानन्द के शुद्धि आंदोलन से ईसाई मिशनरियों को समझ में आया कि उनके लिए वह कितना बड़ा खतरा थे। वास्तव में शुद्धि की यह कल्पना एक हिन्दू कल्पना है जिसका अर्थ है वह गुण जो धर्म के समुचित पालन के लिए आवश्यक है और इसमें संस्कार तथा कर्तव्य निहित हैं। दूषित हो गए व्यक्ति को पुनः शुद्धि के द्वारा समाज में शामिल कर लिया जाता है। 19वीं शताब्दी में समुद्र यात्रा करने वालों को प्रायश्चित द्वारा शुद्ध करके धर्म में प्रतिष्ठित करने की प्रथा आरम्भ हुई। दयानन्द ने प्रायश्चित की इस प्रथा की निंदा की। इसी प्रकार धर्म भ्रष्ट लोगों को प्रायश्चित करने पर फिर धर्म में शामिल कर लिया जाता था।

शुद्धि का प्रश्न सबसे पहले स्वामी दयानन्द ने पंजाब में लुधियाना में उठाया। रामशरण नामक एक ब्राह्मण एक मिशनरी स्कूल में शिक्षक थे। वह ईसाई होने जा रहे थे। लुधियाना के कुछ हिन्दू स्वामीजी से मिले और उन्हें ईसाई होने से बचाने को कहा। स्वामीजी ने रामशरण को धर्म का मर्म समझाया और उसने ईसाई होने का विचार त्याग दिया। इस घटना ने पंजाब में मिशनरियों के धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन के आंदोलन की ओर स्वामीजी का ध्यान खींचा। अगले छह महीनों के दौरान उन्होंने इस समस्या के बारे में लोगों से चर्चा की और इस पर काफी विचार किया। जालंधर में उन्होंने शुद्धि के बारे में प्रवचन दिया और एक ईसाई को शुद्धि के द्वारा हिन्दू धर्म में परिवर्तित किया। और भी कई ऐसे मामले थे। खड़गसिंह नामक एक संत को अमृतसर के रेवरेंड क्लार्क ने ईसाई बना लिया था, लेकिन खड़गसिंह के मन में अभी भी शंका बनी हुई थी। वह लिखता है: "इसी समय मेरी भेंट दुबारा स्वामी दयानन्द से हुई।... जब हम दोनों फकीर थे उस समय मैं उनसे मिल चुका था। उन्होंने मुझे बताया कि मैंने वेदों के अर्थ को गलत समझा है और मुझे मोक्ष प्राप्ति के लिए योग-साधना करनी चाहिए। कुछ

समय तक मैंने उनका अनुसरण किया और आर्य बन गया। ईसाइयों ने मुझे छोड़ दिया।'' कहते हैं कि बाद में खड़गसिंह फिर ईसाई बन गया।

जिस समय दयानन्द अमृतसर में थे, उस समय मिशन स्कूल के चालीस छात्रों ने अपने को 'बिना बप्तिस्म वाला ईसाई' कहना शुरू कर दिया। वे लोग पूरी तरह ईसाई धर्म के प्रभाव में थे। उन्होंने 'प्रेयर मीटिंग' नामक एक संस्था बना ली। स्वामीजी ने इन लोगों को भी पुन: हिन्दू धर्म की ओर लौटा लिया। रेवरेंड वेयरिंग ने क्षुब्ध होकर पंडित खान सिंह के साथ स्वामीजी का शास्त्रार्थ कराया। पंडित खानसिंह ने बारह साल पहले ईसाई धर्म ग्रहण किया था। स्वामीजी से बात करने पर पंडित खानसिंह उनसे इतने प्रभावित हुए कि उनके अनुयायी बन गए। मिस्टर वेयरिंग स्वामीजी को इस तरह विजय प्राप्त करके कैसे जाने देते? उन्होंने कलकत्ता से रेवरेंड के.एन. बनर्जी को स्वामीजी का मुकाबला करने के लिए बुलाया। लेकिन बनर्जी अपनी लड़की की बीमारी के कारण नहीं आ सके। इस बीच कुछ ईसाई फिर से हिन्दू हो गए। यही एक क्षेत्र था जहां स्वामीजी ने शुद्धि में सक्रिय दिलचस्पी ली। वैसे उनका कहना था कि शुद्धि तो एक उचित और आवश्यक क्रिया है। किंतु इन घटनाओं से पंजाब के आर्यसमाजियों को प्रेरणा मिली और शुद्धि आंदोलन दूर-दूर तक फैला। ईसाई धर्म प्रचारकों ने 1880 के दशक में इसका पूरा असर महसूस किया। ईसाई मिशनरियों को आंदोलन के रूप में दिया गया यह मुंहतोड़ जवाब पंजाब के हिन्दुओं को बहुत भाया। स्वामीजी के बढ़ते हुए प्रभाव और उनकी लोकप्रियता का यह भी एक बहुत बड़ा कारण था। इस प्रभाव को अमेरिका के थियोसोफिस्टों द्वारा स्वामीजी को भेजे गए पत्र ने और सुदृढ़ किया। उन्होंने अपने पत्र में लिखा था कि पश्चिम में बहुत से ईसाई अपने धर्म से असंतुष्ट थे और वे अपने आध्यात्मिक समाधान के लिए भारतीय धर्म की ओर उन्मुख हो रहे थे।

शुद्धि आंदोलन ने पहले पंजाब में और फिर सारे उत्तर भारत में प्रबल रूप ग्रहण किया। जम्मू-कश्मीर में 10,000 लोग आर्य समाज में शामिल हो गए। सियालकोट में दूसरी जाति के 3,600 लोगों की शुद्धि की गई।

पंडित रामभज दत्त के नेतृत्व में 'भारत शुद्धि सभा' ने उन हजारों लोगों को फिर से हिन्दू बनाया जो ईसाई या मुसलमान हो गए थे। लाहौर में मेहतर और चमारों के बीच समाज ने यही काम किया। रोशनलाल, सत्यानंद और राधाकृष्ण जैसे नेताओं ने सभी जाति के हिन्दुओं को समान अधिकार दिए जाने पर जोर दिया। उत्तर प्रदेश में भी बहुत से लोगों की शुद्धि करके फिर हिन्दू बनाया गया। आर्य समाज ने भारतीय समाज से अस्पृश्यता का कलंक मिटाने की दिशा में बहुत काम किया। कई ईसाइयों और मुसलमानों को आर्य धर्म में शामिल किया गया। श्री आर.ए. डिकी ने, जो जन्म से ईसाई थे, आर्य धर्म स्वीकार कर लिया। संक्षेप में, शुद्धि आंदोलन ने दलित जातियों का दर्जा ऊंचा किया और भारतीयों में ऐसी राष्ट्रीय भावना पैदा की जिससे कि वे विदेशी धर्म के मुकाबले अपने धर्म की श्रेष्ठता समझने लगे। दलित जातियों के उत्थान का आंदोलन बहुत तेजी से फैलने लगा। लाला लाजपत राय ने इस आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाई। उन्होंने कई स्थानों का दौरा किय तथा जगह-जगह भाषण दिए।

इस आंदोलन का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। कांग्रेस के अंदर यह धारणा बनी कि समाज सुधार पर ध्यान देने की जरूरत है। 1917 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में श्री जी.ए. नटेसन ने दलित जातियों के बारे में एक प्रस्ताव पेश किया: ''कांग्रेस भारत की जनता से जाति के आधार पर आरोपित सभी प्रकार की निर्योग्यताएं समाप्त करने का आग्रह करती है क्योंकि यह बहुत ही अन्यायपूर्ण है और न्याय की मांग है कि इसे दूर किया जाए क्योंकि दलित जातियों को इससे बड़ी कठिनाइयों और असुविधाओं का सामना करना पड़ता है।'' श्री बी. जे. देसाई ने प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा कि दलित और नीची जातियों के साथ सामाजिक न्याय करके ही राष्ट्रीय मुक्ति सम्भव है। उन्होंने कहा: ''मैं कहता हूं कि केवल सामाजिक न्याय करके ही हम वह स्वराज पा सकते हैं जिसकी हम कामना करते हैं।''

शुद्धि आंदोलन की काफी आलोचना हुई किन्तु स्वामीजी के अनुयायियों ने उसकी चिन्ता नहीं की। वे पूरी तरह राष्ट्रवादी थे। उनके दिल में किसी विदेशी धर्म या शासक के लिए कोई स्थान नहीं था। वे चाहते थे कि भारत

सिर्फ भारतीयों का होना चाहिए। यह आंदोलन एक पूरी जाति की इस उत्कट इच्छा का द्योतक था कि उसे अपनी खोई शक्ति वापस मिले और उसमें वृद्धि हो। उनका विचार था कि हिन्दू जाति में एकता उत्पन्न होगी तो वह शक्तिशाली बनेगा, लोकतांत्रिक बनेगा और आंतरिक कलह के कारण राष्ट्रोन्नति के मार्ग में पडने वाली बाधाएं भी दूर होंगी। इसका सारा श्रेय स्वामीजी को है। उन्होंने प्रथाओं और रूढ़ियों को तोड़ा। अस्पृश्यता को खत्म करने के उनके आंदोलन ने कांग्रेस की जड़ों को मजबूत किया। सामाजिक और धार्मिक पुनर्जागरण की बुनियाद पर उन्होंने जो मोर्चा बनाया उसने अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई में भारत की शक्ति बढ़ाई।

सभी सुधार आंदोलनों ने स्त्रियों की मुक्ति और स्कूलों के प्रसार पर सबसे अधिक ध्यान दिया। स्त्री-शिक्षा और मुक्ति के स्वरूप पर भले ही उनमें मतभेद रहे हों, लेकिन इसकी आवश्यकता के बारे में सब एकमत थे। चाहे सुधारवादी हों या कट्टरपंथी, सभी स्त्री-शिक्षा और स्त्रियों के विवाह के मामले में कुछ सुधार चाहते थे। अज्ञान, छोटी आयु में मातृत्व का बोझ, छोटी आयु में वैधव्य और पुरुषों पर पूर्णाश्रयता के कारण स्त्रियों की दशा खराब थी। विधवा विवाह के प्रश्न पर मतभेद भले ही थे, किन्तु विधवाओं की स्थिति सुधरनी चाहिए, इस बारे में किसी की दो राय नहीं थी।

दयानन्द ने जिस हिन्दू समाज में काम शुरू किया उसमें स्त्रियां अन्याय की शिकार थीं। इस्लाम और ईसाई धर्म में स्त्रियों ने इससे भी अधिक कष्ट उठाए थे, लेकिन फिर भी हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति वैसी अच्छी नहीं थी जैसी कि वैदिक काल में थी। प्राचीन काल में शिक्षा और विवाह के मामले में स्त्रियों को पुरुषों के साथ समानता प्राप्त थी। ऋग्वेद में स्त्री को कन्या, पत्नी और माता कहा गया है और तीनों अवस्थाओं में उसके अधिकारों का वर्णन किया गया है। कन्या के रूप में उसे संरक्षण, पालन-पोषण और शिक्षा के वही अधिकार प्राप्त थे जो किसी बालक को थे। शिक्षा के समान अधिकार के साथ ही उन्हें अपनी रूचि के विषय में आकांक्षित अवसर मिलते थे। उनका विवाह वैदिक सिद्धांतों के अनुसार होता था। विवाह के लिए कन्या की निम्नतम आयु सोलह वर्ष और पुरुष के लिए पच्चीस वर्ष थी।

अपने जीवन-साथी के चुनाव में दोनों को समान स्वतंत्रता और अवसर थे। परिवार में मां का दर्जा पिता से ऊंचा था। मनु के अनुसार वह पिता के मुकाबले हजार गुना अधिक आदर और सम्मान की अधिकारिणी थी। घर पर उसका पूरा नियंत्रण होता था और घर के मामले, जिनमें खर्चादि के मामले भी शामिल थे, वही सर्वेसर्वा थी। एक आदर्श पत्नी से अपनी जीविका अर्जित करने की अपेक्षा नहीं की जाती थी। पुरुष का स्त्री धन पर कोई अधिकार नहीं था। पति-पत्नी का धर्म था कि वे बिना एक-दूसरे के मार्ग में बाधक बने मनसा, वाचा और कर्मणा आजीवन एक-दूसरे का साथ निभाएं। दोनों यह शपथ लेते थे कि जीवन में इस धर्म का निर्वाह करते हुए वे दूसरे लोक में भी साथ रहेंगे।

स्वामी दयानन्द जब कर्मक्षेत्र में उतरे, उस समय समाज में स्त्रियों की दशा बड़ी दुखद थी। स्त्री, समाज और परिवार में अपना सम्मानपूर्ण स्थान खो चुकी थी। वे पर्दा करती थीं और पुरुषों पर पूर्णतः निर्भर थीं। बाल विवाह का चलन था और एक पत्नी के स्थान पर पुरुष कई पत्नियां रखते थे। स्त्रियों को वेद पढ़ने या शिक्षा का अधिकार नहीं था। विधवाओं की स्थिति दयनीय थी। विधुर पुरुष अनेक बार शादी कर सकता था, किन्तु स्त्री, बाल विधवा होने पर भी पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी। वह सारा जीवन वैधव्य भोगने को बाध्य थी। हो सकता है कि अपनी राजनीतिक और सामाजिक अवनति के कारण हिन्दुओं ने अपनी रक्षा के लिए इन प्रथाओं का निर्माण किया हो। किन्तु इन प्रथाओं के बने रहने का अब कोई कारण नहीं था।

भारतीय स्त्रियों को अपने उद्धार के लिए स्वामी दयानन्द का बहुत बड़ा ऋण चुकाना है। उन्होंने अपनी पुस्तकों में उनके उद्धार के प्रश्न पर लिखा है। उन्होंने वेदों और शास्त्रों से प्रमाण देकर सिद्ध किया कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान वेद पढ़ने का अधिकार है। उन्होंने पर्दा प्रथा छोड़ने, स्त्री-पुरुषों में समानता स्थापित करने और लड़कियों की शिक्षा का उपदेश दिया। उन्होंने देखा कि भारत राष्ट्र की दुर्बलता का एक कारण यह है कि यहां की नारी जाति निर्बल है। वह चाहते थे कि वैदिक काल में स्त्री को जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था वह उसे फिर से प्राप्त हो। उन्होंने स्त्रियों की पूर्ण

विमुक्ति का समर्थन किया। भारत का पुनरुत्थान उनकी शिक्षा के द्वारा ही हो सकता था। जब तक वे स्वयं शिक्षित नहीं होंगी और बच्चों को गोद में बिठा कर भारत के गौरवपूर्ण अतीत और भावी भारत के गौरवपूर्ण भविष्य का पाठ नहीं पढ़ाएंगी, जब तक वे प्राचीन भारतीय स्त्रियों जैसी नहीं बनेंगी, जब तक उनमें देशभक्ति की भावना नहीं होगी और जब तक वे अपने पतियों के समान ही अपने देश को प्यार करना नहीं सीखेंगी; तब तक भारत कमजोर रहेगा। उन्होंने स्त्रियों के लिए समुचित ढंग की शिक्षा पर बल दिया। स्त्री-पुरुषों को समान शिक्षा देने की आवश्यकता बताते हुए उन्होंने कहा कि इनमें से यदि एक शिक्षित और एक अशिक्षित रहेगा तो घर में देवासुर संग्राम जैसी अशांति रहेगी। स्त्रियों को व्याकरण, धर्मशास्त्र, गणित, वैद्यक, और कला की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसके बिना सही-गलत का, पति तथा अन्य लोगों के साथ उचितानुचित व्यवहार का, गृहस्थी के कार्य संचालन का, पाकशास्त्र का और आरोग्य का रहस्य ज्ञान स्त्री को नहीं होगा। दयानन्द के इन्हीं विचारों और सिद्धांतों के आधार पर अनेक स्कूल और कालेज स्थापित हुए। इनमें से कुछ हैं: कन्या महाविद्यालय (जालंधर), महिला डी.ए.वी. कालेज (यमुना नगर), डी.ए.वी. कालेज (अमृतसर), डी.ए.वी. कालेज (बटाला)। आर्यसमाजियों ने स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में अगुआई की और यही कार्य वे आज भी कर रहे हैं।

विवाह सम्बंधी कुछ नियम भी दयानन्द ने बनाए। विवाह की पद्धति में जो बुराइयां घुस आई थीं, अधिकांशतः वे ही स्त्रियों की गिरी स्थिति के लिए जिम्मेदार थीं। बाल विवाह, बहुपत्नी प्रथा, विधवा के पुनर्विवाह का निषेध, दहेज और जाति-उपजाति के संकरे दायरे में विवाह आदि जैसी अनेक बुराइयां हिन्दुओं में थीं।

बाल विवाह के कुछ दृष्टांत हैं: दादाभाई नौरोजी का विवाह ग्यारह वर्ष की आयु में सात वर्षीय गुलाबी के साथ हुआ था। महात्मा गांधी और डा. राजेन्द्र प्रसाद का विवाह तेरह वर्ष की आयु में हुआ था।

दयानन्द ने बाल विवाह के खिलाफ जेहाद छेड़ दिया और अपने समर्थन में लोकमत तैयार किया। उन्होंने विवाह को तीन वर्गों में बांटा: निकृष्ट

विवाह, मध्यम विवाह और श्रेष्ठ विवाह। निकृष्ट विवाह वे थे जो सोलह वर्ष की कन्या और पच्चीस वर्ष के युवक के बीच हो। मध्यम विवाह वह था जो अट्ठारह-बीस वर्ष की युवती और पच्चीस से चालीस के पुरुष के बीच हो। श्रेष्ठ विवाह वह था जिसमें स्त्री चौबीस वर्ष की और पुरुष अड़तालीस वर्ष तक का हो।

स्वामीजी के विचारों को उनके अनुयायियों ने प्रचारित-प्रसारित किया। उन्होंने इस आधार पर बाल विवाह की आलोचना की कि इससे उत्पन्न संतान कमजोर होती है। आर्य समाज की नारी शाखा ने समाज सुधार का काम किया और उसकी एक प्रचारिका पूरन देवी ने घूम-घूम कर बाल विवाह के विरुद्ध प्रचार किया। इस कुप्रथा को दूर करने में 'भारत स्त्री मण्डल' और 'महिला मिलाप समिति' ने बड़ा काम किया।

दयानन्द ने विधवा विवाह का समर्थन किया। उन्होंने उन विधवाओं का पुनर्विवाह करने का समर्थन किया जो कुंठाओं से ग्रस्त होकर भ्रष्ट हो जाती थीं। आदर्श स्थिति तो यही थी कि विधवा स्त्री या विधुर पुरुष पुनर्विवाह न करें, किन्तु यदि वे समाज के नियमानुसार एकाकी जीवन न जी सकते हों तो उन्हें पुनर्विवाह कर लेना चाहिए।

यहां विधवा पुनर्विवाह अधिनियम का उल्लेख करना होगा जो ईश्वरचंद्र विद्यासागर के प्रयत्नों से 1850 में पास हुआ था। यह कानून तब तक किताबों में ही बंद रहा जब तक कि आर्य समाज मैदान में नहीं आया और स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में उसने विधवा पुनर्विवाह आंदोलन को नया संदेश नहीं प्रदान किया। विधवाश्रमों की स्थापना की गई और विधवाओं का विवाह कराने वाली समितियां गठित हुईं जिनका उद्देश्य इस पक्ष में लोकमत तैयार करना और समुचित सुविधाएं उपलब्ध कराना था। स्वामीजी के एक शिष्य, पंजाब के श्री गंगाराम ने विधवाओं के लिए बहुत धन प्रदान किया और सर गंगाराम ट्रस्ट के तत्वावधान में भारत के सभी प्रमुख केन्द्रों में विधवाश्रमों की स्थापना की गई। वैधव्य की विवशता हिन्दू समाज में बहुत-सी स्त्रियों के लिए बहुत बड़ी यंत्रणा थी। उनके ऊपर घरों में जो नियंत्रण थोपे जाते थे, उनसे तंग आकर अनेक विधवाएं मुसलमान या

ईसाई हो जाती थीं। आर्य समाज वह पहली भारतीय संस्था थी जिसने अनाथालय और विधवाश्रम स्थापित किए। पहला हिन्दू अनाथाश्रम स्वामीजी के जीवनकाल में ही फिरोजपुर में खोला गया जहां लड़के-लड़कियों को शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था थी। आर्य समाज के तत्वावधान में उत्तर भारत के अनेक नगरों में इसी प्रकार के अनेक अनाथाश्रम चलाए गए। इसी प्रकार पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार में सर गंगाराम ट्रस्ट की ओर से बड़े-बड़े नगरों में विधवाश्रम खोले गए। गंगाराम, देवीचंद और लाला लाजपत राय ने लोगों से विनती की कि वे अनाथ बच्चों और विधवाओं के प्रति करुणा का भाव रखें। 'प्रकाश' नामक पत्रिका के सम्पादक महाशय कृष्ण ने विधवाओं के अधिकारों की मांग करते हुए उनके लिए विधवाश्रम खोलने की अपील की।

दयानन्द स्त्रियों की स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। उन्होंने और आर्य समाज ने पर्दा प्रथा भंग करके स्त्रियों को बाहर निकलने की आजादी प्रदान की। आज भारतीय स्त्रियां सभाओं और समारोहों में खुल कर भाग लेती हैं और उन्हें पूरी आजादी प्राप्त है।

हिन्दुओं में जघन्य सती-प्रथा प्रचलित थी जिसमें पति के मरने पर पत्नी को उसके साथ ही चिता पर जलना होता था। लार्ड विलियम बेंटिक ने 1834 में एक कानून बनाकर मानवीयता के आधार पर इस पर रोक लगा दी। कट्टरपंथी हिन्दुओं को यह कानून धार्मिक मामलों में अनुचित हस्तक्षेप लगता था। पंडितों का मत था कि धर्म ग्रंथों में सती प्रथा का विधान है। स्वामी दयानन्द ने सिद्ध कर दिया कि सती प्रथा के पक्ष में पंडितों द्वारा दिए जाने वाले सब शास्त्र वचन झूठे हैं और वेदों में ऐसी अमानुषिक प्रथा का कोई समर्थन नहीं किया गया है।

आर्य समाज के आठवें सिद्धांत का उद्देश्य है अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि। यह सचमुच सौभाग्य की बात है कि स्वामीजी के अनुयायियों ने अपने इस कर्तव्य का पालन बड़ी ही लगन और उत्साह के साथ किया।

ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के विचारों, सिद्धांतों और योजनाओं के आधार पर ही स्कूलों और कालेजों की स्थापना

करना चाहते थे। 1868 के लगभग स्वामीजी को लगा कि देश में स्कूलों और पाठशालाओं की बहुत जरूरत है क्योंकि प्रवचनों और शास्त्रार्थों का अपना महत्व होते हुए भी उनका प्रभाव बहुत अल्पकालिक होता था। स्कूलों की स्थापना से जनता को, ज्ञान का प्रकाश देने का एक स्थायी साधन मिल सकता था जिससे सुधार तथा नव निर्माण के अपने काम में उन्हें बहुत सहायता मिलती। कुछ दानवीर व्यक्तियों की उदारता से उत्साहित होकर स्वामीजी ने उत्तर प्रदेश में सात विद्यालय स्थापित किए। उन्होंने स्कूलों और छात्रों के लिए नियम निर्धारित किए। किन्तु ये पाठशालाएं सफलतापूर्वक नहीं चल सकीं। इनमें पढ़ाने वाले पंडितों में कार्य के प्रति निष्ठा और लगन का अभाव था। दयानन्द को तो जगह-जगह घूमना पड़ता था जिससे वे इन शालाओं की तरफ पूरा ध्यान नहीं दे सकते थे। बहुत से छात्रों ने तो मुफ्त भोजन और आवास के लालच में इनमें नाम लिखा लिया था। फलतः ये शालाएं एक-एक करके बंद हो गईं।

पाठशालाओं के लिए बनाए गए नियमों और 'सत्यार्थ प्रकाश' में शिक्षा सम्बंधी अध्याय को पढ़ने से राष्ट्रीय शिक्षा के प्रति दयानन्द के विचारों को जाना जा सकता है। भारत के शिक्षा सम्बंधी कार्यक्रम में उनका भारी योगदान है। इसमें कुछ बहुत ही उपयोगी और अच्छे विचार हैं जिनका लाभ आज के शिक्षाशास्त्री उठाएं तो अच्छा होगा।

अज्ञान का नाश करने और राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति लागू करने की दृष्टि से अंग्रेज सरकार द्वारा उस समय अपनाई गई शिक्षा नीति बिलकुल बेकार थी, यह बात दयानन्द जानते थे। अतः उन्होंने एक अलग शिक्षा योजना का प्रतिपादन किया जिसमें सभी के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था थी। 'सत्यार्थ प्रकाश' के तीसरे समुल्लास के अनुसार माता-पिता, शिक्षकों और रिश्तेदारों का यह परम कर्तव्य है कि वे बच्चों को अच्छी और ठोस शिक्षा दें, उनमें अच्छे चरित्र का निर्माण करें, उन्हें सुसंस्कार दें और उनके स्वभाव को परिष्कृत करें। सरकार और समाज, दोनों को चाहिए कि वे बच्चों (लड़के-लड़कियां दोनों) को पांच वर्ष अथवा अधिकतम आठ वर्ष की आयु में स्कूल भेजना शुरू करें

और निर्धारित उम्र तक, अर्थात् लड़कों को तेईस वर्ष और लड़कियों को सोलह वर्ष की आयु तक पढ़ाएं। पढ़ाई की निश्चित उम्र के बाद बच्चों को घर पर रखना दंडनीय अपराध घोषित किया जाना चाहिए। सभी स्कूलों में एक ही प्रकार के भोजन, पानी और वस्त्रों की व्यवस्था हो। सभी में बैठने की समान व्यवस्था हो। राजकुमार हों या भिखारी के बच्चे, सभी को समान अनुशासन का पालन करना होगा। श्रेष्ठ कोटि का सुसभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति तैयार करने के लिए अमीर-गरीब, राजकुमार और किसान, ब्राह्मण और शूद्र के बीच सभी कृत्रिम भेदों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

दयानन्द का मत था कि ज्ञान पर सबका जन्म सिद्ध अधिकार है और रंग या लिंग के आधार पर किसी को इससे वंचित नहीं किया जाना चाहिए। निश्चय ही, राष्ट्रीय शिक्षा की यह एक लोकतांत्रिक अभिकल्पना थी। यह शिक्षा समृद्ध परिवारों के लड़कों के अंदर पुरुषोचित गुण और अनुशासन उत्पन्न करेगी और गरीबों के बच्चों को समाज में अपना स्थान ऊंचा उठाने में सहायक होगी। जन्म नहीं बल्कि योग्यता के आधार पर समाज में स्थान प्राप्त होना चाहिए और अपने नैतिक और आध्यात्मिक.उत्थान के लिए सभी को समान अवसर मिलने चाहिए। दयानन्द ने राजाओं के 'दैवी अधिकार' का सिद्धांत अस्वीकार कर दिया। उन्होंने शिक्षा पर एक ही जाति या वर्ग के एकाधिकार के खतरे को पहचाना। भारत के पतन का इतिहास साक्षी था कि किस प्रकार ब्राह्मणों ने अपना नियंत्रण शिथिल पड़ने के भय से ज्ञान का प्रसार रोक कर लोगों को शिक्षित ही नहीं, निरक्षर बनाए रखा था।

पाठ्य विषयों के बारे में दयानन्द का विचार था कि उनमें ज्ञान की सभी शाखाओं का समावेश होना चाहिए। भाषाओं, कलाओं, विज्ञान की विभिन्न शाखाओं और टैक्नोलाजी के ऊपर एक जैसा जोर देने की आवश्यकता वह मानते थे। सरकारी शिक्षाप्रणाली में चरित्र निर्माण का कोई स्थान नहीं था। फलस्वरूप वह केवल गुलाम पैदा कर रही थी। दयानन्द मानते थे कि सच्ची और अच्छी शिक्षा प्रणाली में चरित्र निर्माण पर विशेष जोर दिया जाना चाहिए और इसीलिए नैतिकता और धर्म की शिक्षा को शिक्षा प्रणाली का आधार होना चाहिए।

दयानन्द का मत था कि माता-पिता तथा शिक्षक अपने बच्चों को नेक सलाह दें और उन्हें गुणों को अपनाने तथा दुर्गुणों का त्याग करने को कहें। उनके अनुसार बच्चों को सत्यवादी होना चाहिए और किसी पाखंडी या नीच चरित्र के व्यक्ति का विश्वास नहीं करना चाहिए। उन्हें अपने माता-पिता और शिक्षक द्वारा बताई गई बातों का पालन करना चाहिए। दयानन्द ने शिक्षकों को सलाह दी कि बच्चों ने अपने माता-पिता से घर पर जो सीखा हो—वेद-मंत्र, गद्यांश, राजनीतिक सिद्धांत, सदाचार, ज्ञान और सच्चरित्र आदि—वे उसका पुनरभ्यास कराएं। बच्चों को ईश्वर के स्वभाव और उसके गुणों का ज्ञान होना चाहिए और तदनुसार उसकी उपासना करनी चाहिए। उन्होंने माता-पिता को इन शब्दों में सलाह दी : ''अपने बच्चों की शिक्षा की उपेक्षा करने वाले माता-पिता उसके शत्रु हैं। उन्हें बच्चों को उच्चतम शिक्षा देनी है, सत्य की शिक्षा देनी है, उन्हें चरित्रवान और सुसंस्कारी बनाना है। संक्षेप में, माता-पिता इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपना तन-मन-धन लगा दें, यही उनका परम कर्तव्य, उच्चतम गुण और सर्वोच्च गौरव है।''

शिक्षकों की योग्यता और पाठशालाओं की स्थिति के बारे में दयानन्द का मत था : जो अपने विषय के अधिकारी विद्वान और निर्मल चरित्र के हों, केवल ऐसे ही लोग शिक्षा देने के योग्य है। पाठशाला किसी एकांत स्थान पर होनी चाहिए। लड़कों की शाला लड़कियों की शाला से कम-से-कम तीन मील की दूरी पर हो। लड़कों की पाठशाला के सभी शिक्षक तथा कर्मचारी पुरुष हों, और लड़कियों की शाला में स्त्रियां हों। विपरीत लिंग का पांच वर्ष का बच्चा भी शाला में नहीं आने दिया जाना चाहिए। ब्रह्मचारी रहते हुए शिक्षकों को अशुद्धता से बचना चाहिए, अपने ज्ञान को और पूर्ण करते, अपने स्वभाव और व्यवहार को और अधिक सौम्य बनाते तथा शरीर और बुद्धि बल को बढ़ाते हुए प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिए। पाठशाला को किसी गांव या शहर से पांच मील से कम की दूरी पर नहीं होना चाहिए।''

दयानन्द लड़के-लड़कियों की सह शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। इसका वह नैतिकता और शिक्षा की दृष्टि से विरोध करते थे। उन्होंने बलपूर्वक कहा

कि नैतिक शिक्षा का निर्माण जिस आधार-शिला पर किया जा सकता है वह ब्रह्मचर्य है जिसके अर्थ हैं सादगी, पवित्रता और आत्मानुशासन। जितना जोर उन्होंने इसके ऊपर दिया है उतना शायद अन्यत्र कभी कहीं नहीं दिया गया होगा। वह छात्र जीवन में कठोर ब्रह्मचर्य और कठोर सादगी के कायल थे और शहरी जीवन के दूषित करने वाले प्रभाव से दूर रहने का आग्रह करते थे।

दयानन्द के अनुयायियों ने उनकी भावनाओं को ध्यान में रखते हुए और उनके विचारों से प्रभावित होकर अनेक शिक्षा संस्थाएं खोलीं। उनकी मृत्यु के शीघ्र बाद ही 1886 में लाहौर में दयानन्द एंग्लो-वर्नाकुलर स्कूल की स्थापना हुई जो बाद में कालेज बन गया। इसे दयानन्द की पवित्र स्मृति में खोला गया था। इस शिक्षा संस्थान में विशिष्ट दर्जे के विद्वान तैयार करने और ऊंची-से-ऊंची विश्वविद्यालयीय परीक्षा की तैयारी कराने का प्रबंध था। इस स्कूल का उद्देश्य था: (क)प्राचीन साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहन, उन्नयन और सुदृढ़ करना; (ख) शास्त्रीय, संस्कृत और वेदों के अध्ययन को प्रोत्साहित करना; (ग) अंग्रेजी साहित्य, विज्ञान (सिद्धांत और व्यावहारिक) का अध्ययन करना और (घ) तकनीकी शिक्षा प्रदान करने के साधन उपलब्ध कराना। धीरे-धीरे यह संस्था इतनी लोकप्रिय हो गई कि 1914 में उत्तर भारत की सबसे बड़ी शिक्षा-संस्था बन गई। छात्रों की संख्या की दृष्टि से शायद इसका स्थान देश में दूसरे नम्बर पर था। कालेज में संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी, दर्शन, इतिहास, राजनीति शास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र, तर्क शास्त्र, भौतिक विज्ञान, रासायनिक विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, जीव शास्त्र और गणित के विषय पढ़ाए जाते थे। अन्य शिक्षा संस्थाओं के मुकाबले इस कालेज की विशेषता यह थी कि यहां के शिक्षकों और छात्रों में देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। 1897 के अकाल और 1905 में कांगड़ा के भूकम्प के दौरान इस कालेज के छात्रों और शिक्षकों ने बहुत सेवा कार्य किया।

इसके अलावा, इस कालेज के साथ अनेक प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बद्ध थे। पेशावर, मुल्तान, अमृतसर

बटाला, दसुया पट्टी, शाल्सपुर, दिल्ली, शाहबाद, हाफिजाबाद, लायलपुर, एबटाबाद, कांगड़ा, हिसार, अम्बाला आदि के मुफस्सिल स्कूल डी.ए.वी. कालेज के साथ सम्बद्ध थे। इस कालेज और सभी स्कूलों का आदर्श राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार करना था। उत्तर प्रदेश में भी पंजाब के एंग्लो-वैदिक या एंग्लो-संस्कृत स्कूलों की तरह ही आर्य समाज ने अनेक शिक्षा संस्थाएं खोल रखी थीं। इनमें मुख्य था देहरादून का एंग्लो-वैदिक स्कूल। कानपुर, बनारस, लखनऊ और देहरादून के डी.ए.वी. कालेज खूब फल-फूल रहे थे। इसके अलावा अनेक कालेज और स्कूल भी आर्यसमाजियों के हाथ में थे। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, अजमेर आदि अनेक प्रांतों में इनका काम बहुत सुचारु रूप से चल रहा था। इसके अलावा आर्य समाज ने अनेक अंग्रेजी स्कूल भी खोले, जैसे अजमेर का दयानन्द हाई स्कूल, जालंधर का दोआबा हाई स्कूल, जोबनेर का एंग्लो-वैदिक हाई स्कूल, अलीगढ़ का डी.ए.वी. स्कूल और वैदिक आश्रम, जालंधर का एंग्लो-संस्कृत हाई स्कूल, फैजाबाद का लेखराम मैमोरियल स्कूल, और कानपुर का आर्य नाइट स्कूल।

हरिद्वार के निकट स्थित गुरुकुल कांगड़ी आर्य समाज की अनुपम संस्था है। इसकी स्थापना के पीछे विद्रोह की वही भावना काम कर रही थी जिसके चलते दयानन्द अपना घर छोड़ कर सत्य की खोज में भटकने लगे थे। आर्य-समाजियों का मत था कि राष्ट्रीय भावना का प्रसार करने के लिए निरंतर काम करने की जरूरत है। किन्तु उन्होंने देखा कि इस कार्य के सफल सम्पादन के लिए एक पाठशाला का होना जरूरी है जो शिक्षा के उनके आदर्शों का मूर्त रूप हो। इसके पीछे दयानन्द की कल्पना की शिक्षा प्रणाली को कसौटी पर रखने का विचार था। इस योजना का मुख्य उद्देश्य वैदिक संस्कृत का उच्चतर ज्ञान प्रदान करना और वैदिक परम्परा के अनुसार चरित्र का निर्माण करना था। कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना महात्मा मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानंद) ने 1902 में उसी योजना को कार्यान्वित करने की दृष्टि से की। बाद में यह संस्था भारतीय राष्ट्रीय भावना की पोषण स्थली बन गया। इस शिक्षा संस्था की स्थापना ब्रह्मचर्य के प्राचीन आश्रम को पुनर्जीवित करने, प्राचीन भारतीय दर्शन और साहित्य में नव-प्राणों का संचार करने, भारत के पुरातत्व का शोध करने, प्राच्य विचारधारा में जो

कुछ सर्वोत्तम हो, उसे समाहित करने वाले हिन्दू साहित्य की रचना करने, वैदिक धर्म का प्रचार करने वाले शिक्षक तैयार करने, ऋषियों तथा मुनियों की इस धरती पर श्रेष्ठतम सभ्यताओं की विशेषताओं और गुणों से युक्त श्रेष्ठ नागरिक उत्पन्न करने के घोषित उद्देश्य को सामने रख कर की गई थी। महात्मा मुंशीराम के शब्दों में: ''हमारा उद्देश्य एक ऐसे स्कूल की स्थापना करने का है जहां शुद्ध वैदिक शिक्षाओं के आधार पर सुदृढ़ धार्मिक चरित्र का निर्माण किया जा सके। हमने देखा कि देश को दो विशेष गुणों से युक्त मनुष्यों की जरूरत थी—वे चरित्रवान हों और उनमें धार्मिक एकता हो। इस जरूरत को पूरा करने के काम में हम जुट गए।'' गुरुकुल ने अपने यहां ऐसे बहुत से अच्छे नागरिक और चरित्रवान व्यक्ति तैयार किए जो भारतीय संस्कृति पर पश्चिम के प्रभाव को स्वीकार करने के लिए कदापि तैयार नहीं थे। ये लोग क्रांति की भावना से ओत-प्रोत थे और इन्होंने सामाजिक उत्थान के लिए बहुत काम किया। आगे चल कर जो राजनीतिक राष्ट्रीय चेतना पैदा हुई वह इसी शिक्षा और इसी सामाजिक उत्थान के लिए किए गए कार्य का परिणाम था। 'वैदिक मैगजीन' के सम्पादक ने एक बार लिखा था: ''शिक्षा का प्रभाव केवल बुद्धि पर ही नहीं बल्कि भावनाओं पर भी पड़ना चाहिए। बुराई के प्रति घृणा और अच्छाई के प्रति प्रेम ही आत्मानुशासन का रहस्य है, और इसे गुरुकुल पद्धति की शिक्षा ही सबसे अच्छे ढंग से पैदा कर सकती है।''

गुरुकुल के स्नातकों ने अनुभव किया कि भारत देश भारतवासियों के लिए है और भारत में अपनी शिक्षा, अपनी संस्कृति, अपना धर्म और अपना राज्य प्रशासन होना चाहिए। गुरुकुल का उद्देश्य गहरी राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय परम्परा उत्पन्न करना था। हम एक प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। अतः हमारी शिक्षा के पाठ्यक्रम में हिन्दू नीतिशास्त्र और दर्शन को सर्वोच्च स्थान दिया जाएगा। पाश्चात्य शिक्षा पद्धति केवल अनुबंध और भ्रम पर आधारित है। वैदिक शिक्षा के सिद्धांतों पर आधारित इस अनूठी संस्था के द्वारा इस प्रकार जन-जागृति फैलनी ही थी जिसने भारत में एक नई प्रकार की राष्ट्रीयता को जन्म दिया।

कांगड़ी के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी आर्य समाज ने गुरुकुलों की

स्थापना की। इनमें से कुछ हैं: इंद्रप्रस्थ, वृन्दावन, (उ.प्र.), वैद्यनाथ धाम (बिहार), होशंगाबाद (म.प्र.), चित्तौड़ (राजस्थान) आदि। मथुरा, बदायूं, फर्रुखाबाद और देवलाली के गुरुकुल भी प्रमुख हैं। आर्य समाज द्वारा जो प्रमुख शिक्षा संस्थाएं स्थापित की गईं और जिन्होंने अंग्रेजों के जमाने में राष्ट्रीय भावना के प्रसार में मुख्य भूमिका निभाई उनमें से कुछेक नाम इस प्रकार हैं: अमृतसर, जालंधर, अम्बाला, चंडीगढ़, नई दिल्ली, शोलापुर, अबोहर, आदि। यमुना नगर, अमृतसर आदि में स्थित महिलाओं के डी.ए.वी. कालेज, हंसराज महिला महाविद्यालय, जालंधर; दयानन्द कालेज, हिसार; दयानन्द कालेज आफ एजुकेशन, शोलापुर; दयानन्द कालेज आफ कामर्स, शोलापुर आदि।

दयानन्द ने विदेशी शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध एक प्रकार का विद्रोह पैदा कर दिया और राष्ट्रीयता की भावना पैदा की। ज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन भारत के लोग बहुत उन्नति कर चुके थे। गणित, रसायन शास्त्र और आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में सदियों पहले उन्होंने उस समय अनोखी उपलब्धि प्राप्त कर ली थी जब लगभग दुनिया के देश अभी सो ही रहे थे। उनका मत था कि कम-से-कम धर्म और दर्शन के क्षेत्र में यूरोप कहीं भी भारत का मुकाबला नहीं कर सकता। उनका तो यहां तक मानना था कि भारत से ज्ञान का प्रकाश फैलने से पहले मिस्र, यूनान और यूरोप महाद्वीप के लोग अज्ञान के अंधकार में डूबे हुए थे। अतः उन्होंने बार-बार भारतवासियों को सचेत किया कि उन्हें पाश्चात्य विचारधारा की नकल करने की कोई जरूरत नहीं है। स्वामीजी ने स्वदेशी पद्धति से शिक्षा के क्षेत्र में सुधार लाने का प्रयत्न किया। उन्होंने विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने के सिद्धांत का विरोध किया। उनका कहना था कि अंग्रेजी शिक्षा अच्छी हो सकती है, अंग्रेजी संस्कृति अच्छी हो सकती है, उनका दर्शन अच्छा हो सकता है लेकिन इनमें से प्रत्येक हमारी गुलामी की बेड़ी को मजबूती प्रदान करता है। अतः शिक्षा की जड़ें राष्ट्रीय भावना और परम्परा में गहरी जमी होनी चाहिए। हम एक प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं...हमारी शिक्षा में भारतीय नीतिशास्त्र और दर्शन को सर्वोपरि स्थान प्राप्त होगा। स्वामीजी का दृढ़ मत था कि जनता का विकास और प्रगति सुनिश्चित करने और उनके अस्तित्व की रक्षा करने का सर्वोत्तम साधन है—शिक्षा।

दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद

दयानन्द ने जिस समय कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया उस समय तक भारतीय राष्ट्रवाद पर मुख्यतया उन मध्यवर्गीय बुद्धिवादियों का ही प्रभाव था जो अंग्रेजी शिक्षा की उपज थे। उनके विचार, उनकी आशाएं, उनकी आकांक्षाएं सभी पश्चिमोन्मुखी थीं। 1858 में महारानी विक्टोरिया की घोषणा उनके लिए अधिकारों का सबसे बड़ा दस्तावेज था और वे ब्रिटिश साम्राज्य से कुछ रियायतें पाने की आशा लगाकर बैठे थे। वे ब्रिटिश साम्राज्य के वफादार नागरिक होने का स्वांग भी करते थे। जड़विहीन ये बेगाने से लोग प्रेरणा के लिए बर्क, बेंथम, मैजिनी, मिल, स्पेंसर आदि जैसे यूरोप के उदारवादी विचारकों का मुंह जोहते थे। उनमें यह कहने का साहस नहीं था कि भारत पश्चिम के समकक्ष ही नहीं, कुछ मामलों में उससे भी श्रेष्ठ है।

यह दयानन्द सरस्वती ही थे जिन्होंने अपनी लड़ाकू रणनीति से भारतीयों को पहली बार यह अनुभव कराया कि वे एक शानदार सांस्कृतिक विरासत के उत्तराधिकारी हैं, कि उनका राष्ट्र एक महान राष्ट्र है। उन्होंने भारतवासियों को सिखाया कि उन्हें अपने धर्म पर आरूढ़ रहना चाहिए, अपनी प्राचीन संस्कृति पर उन्हें गर्व होना चाहिए, अपनी भाषा से प्यार करना चाहिए और उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वह सर्वप्रथम नेता थे जिन्होंने स्वराज की यह कल्पना प्रस्तुत की। वह सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने घोषणा की कि अच्छी सरकार स्व-सरकार का विकल्प नहीं हो सकती। वह गुजरात के निवासी थे, किन्तु आर्य धर्म का प्रचार करने के लिए उन्होंने हिन्दी को माध्यम बनाया। स्वामीजी ही वह व्यक्ति थे जिन्होंने स्वदेशी और बहिष्कार का नारा देश को दिया और राष्ट्रीय भावना को

जागृत किया। दयानन्द के धधकते हुए देशप्रेम ने भारतीय राष्ट्रवाद को और अधिक व्यापक आधार प्रदान किया और उसे सामान्य जनता में फैलाया। इसने ही वह पृष्ठभूमि तैयार की जिसके साये में राष्ट्रवादी और उग्रवादी विचारधाराएं आगे चल कर फूली-फलीं। महर्षि दयानन्द की दृष्टि भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान तक ही सीमित नहीं थी बल्कि उसने उन कल्पनाओं और विचारों को भी जन्म दिया, जिनके सहारे भारतीय राष्ट्रवाद 1905 के बाद परवान चढ़ा।

स्वामी दयानन्द ने 'स्वराज हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' का नारा दिया। उन्होंने कहा कि भारत भारतवासियों का है। दयानन्द के आदर्श भारत में यूरोपियनों के लिए कोई स्थान नहीं था। दयानन्द मानते थे कि भारतवासी अपना हर कार्य यूरोपियनों के मुकाबले कहीं ज्यादा बेहतर ढंग से कर सकते हैं। वह कहते थे: यूरोपियनों और उनकी तमाम बुराइयों से छुटकारा पाना हमारा धार्मिक कर्तव्य है। जो आदमी धर्म को गहराई से समझता है वह उतनी ही स्पष्टता से यह स्वीकार कर सकता है कि यूरोपियनों और यूरोपीय प्रभावों का जड़ से उन्मूलन कर देना चाहिए। आरम्भ से ही दयानन्द ने देख लिया था कि परिस्थितिवश भारत किस तरह शारीरिक और मानसिक रूप से घोर दासता की बेड़ियों में जकड़ गया है। उनका मानना था कि अज्ञान के अंधकार में डूबी हुई भारत की जनता के अंदर जो मिथ्या धार्मिक मान्यताएं और प्रथाएं प्रचलित हैं, वे भी इस गुलामी के लिए जिम्मेदार हैं। भारतीय मानस के लिए धर्म का सदैव से ही आकर्षण रहा है। उन्होंने खुले आम कहा कि जब तक सम्प्रदायवादी धार्मिक गढ़ों पर आक्रमण नहीं किया जाएगा, तब तक देश का उद्धार सम्भव नहीं है। भारत की राजनीतिक दासता के कारणों के बारे में उनका मत था कि हमारे दुर्भाग्य, आलस्य, उपेक्षा और आंतरिक फूट के कारण अन्य देशों का तो कहना ही क्या, स्वयं भारत में भी कोई अपना स्वतंत्र और निर्भीक शासन नहीं है, स्वाधीनता नहीं है। जो कुछ थोड़ा बहुत है, वह विदेशियों के पैरों तले कुचला हुआ है। बुरे दिन आने पर जनता को बहुत दुख सहने पड़ते हैं। दूसरे लोग कितना ही अच्छा काम क्यों न करें, स्वशासन सबसे श्रेष्ठ शासन होता है। उन्होंने अनुभव किया कि इस स्वतंत्रता के अभाव में इस

देश के मौलिक अधिकारों और परम्पराओं पर आधारित सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण की कोई भी व्यापक योजना कार्यान्वित करना असम्भव है। अतः वह स्वतंत्रता चाहते थे, सभी अर्थों में, सभी क्षेत्रों में।

दयानन्द ने 'सुराज' और 'स्वराज' के अंतर को बहुत स्पष्टता के साथ वर्णित किया। भारत के अंग्रेजी शिक्षित लोगों द्वारा कहा जाता था कि ब्रिटिश शासन सबसे अच्छा शासन है। दयानन्द ने इस दावे का खंडन करने में समय नष्ट नहीं किया। उन्होंने 'सुराज' और 'स्वराज' की तुलना करते हुए कहा कि कोई भी विदेशी शासन, भले ही वह कितना ही अच्छा हो, स्वराज से अच्छा नहीं हो सकता। यह वह समय था जब कोई भी व्यक्ति स्वराज का अर्थ और उसका पाठ पढ़ाने का साहस नहीं कर सकता था। दयानन्द का निधन 1883 में हुआ। उनका 'सत्यार्थ प्रकाश' उनके निधन से बहुत पहले लिखा गया था जो 1875 तथा 1882 में छपा था। कांग्रेस पार्टी का जन्म एक स्वराज्य की मांग करने वाली पार्टी के रूप में नहीं बल्कि देश के शासन में कुछ भागीदारी दिए जाने की याचना करने वाली पार्टी के रूप में हुआ था। 1906 में पहली बार दादाभाई नौरोजी ने कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में अपने प्रसिद्ध अध्यक्षीय भाषण में स्वराज्य की बात कही थी। अतः जिस समय देश राजनीतिक दृष्टि से इतना ज्यादा पिछड़ा हुआ था, उस समय स्वामी दयानन्द द्वारा स्वदेशी राज का सवाल उठाना महत्व रखता है। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने स्वराज का पाठ पढ़ाया और कहा कि यह सबका जन्म सिद्ध अधिकार है। उन्होंने 'भारत भारतवासियों का है' का नारा दिया। कलकत्ता अधिवेशन की कार्रवाई का आधार यही नारा बन गया था। यह अधिवेशन विशेष उल्लेख का अधिकारी इसीलिए है कि दादाभाई ने स्वराज का नारा इसी अधिवेशन में पहली बार दिया और फलस्वरूप इस ध्येय की प्राप्ति के लिए देश की जनता में बेचैनी हो गई। स्वराज की इस मांग की पृष्ठभूमि दयानन्द ने रची थी, और उसके लिए सक्रिय संघर्ष करने का दायित्व उनके देशवासियों का था। दादाभाई ने निर्भीकतापूर्वक स्वराज के अधिकार की मांग करते हुए कहा कि ब्रिटेन की जनता को अपने देश में शासन पर जो नियंत्रण प्राप्त है, वही नियंत्रण भारतवासियों को भारत में प्राप्त होना चाहिए। दयानन्द की आत्मा ने

कलकत्ता अधिवेशन और कांग्रेस के बाद के अधिवेशनों को प्रभावित कर लिया था। कांग्रेस के नेताओं ने समझ लिया था कि स्वराज ही सारी समस्याओं का एकमात्र इलाज है। स्वराज में ही हमारी आशाएं, हमारी शक्ति और हमारी महानता निहित थी।

दयानन्द मानते थे कि आत्मविश्वास की भावना के बिना स्वराज नहीं प्राप्त किया जा सकता। उनके समय में राजनीतिक सौभाग्य भारत के साथ नहीं था। सभी प्रकार के दुर्भाग्यों ने भारत को घेर रखा था। भारत अंग्रेजों के अधीन था। विदेशी धर्मों का भारत में बोलबाला हो रहा था। शिक्षा लूली-लंगड़ी और विकृत तो थी ही, वह महंगी और राज्य-नियंत्रित भी थी। इस संकटपूर्ण घड़ी में दयानन्द ने एक दैवी योद्धा, व्यक्तियों और संस्थाओं के सर्जक और कठिनाइयों का दमन करने वाले विजेता के रूप में प्रकट होकर भारत की इन दुर्दम शत्रु-शक्तियों का मुकाबला करते हुए भारतवासियों को उनके प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाया और उनके अंदर आत्म-गौरव और आत्मविश्वास का संचार किया। उनका युद्धघोष था: 'भारत, अपने को पहचान!' वेद उनके मार्गदर्शक थे। तथाकथित शिक्षित भारत पाश्चात्य प्रभाव में बह गया था। तब उस समय इस मुक्तिवाद ने गर्जना की: 'अपने को पहचानो!' भारतीयों को आवाज दी:! 'अपनी आत्मा मत बेचो।' 'तुम्हारी मुक्ति अंधानुकरण से नहीं, बल्कि अपनी अस्मिता बनाए रखकर ही होगी।' भारत की आत्मा और मस्तिष्क को उन्होंने बल और विश्वास प्रदान किया। उन्हें विश्वास था कि यदि भारतवासी राजनीतिक दृष्टि से सचेत और भौतिक दृष्टि से बलवान हो जाएं तो स्वराज उनसे दूर नहीं रह सकता। राजनीतिक स्वतंत्रता तो उसका एक अवश्यम्भावी परिणाम होगी। यदि लोग वैदिक धर्म को अपने राष्ट्रीय धर्म के रूप में स्वीकार कर लें तो स्वराज शीघ्र ही प्राप्त कर सकेंगे। दयानन्द वस्तुतः एक सृजनात्मक कलाकार और एक कठोर आलोचक, अपधर्मों के आलोचक और भारतीय राष्ट्र के निर्माता थे। इलाहाबाद के तत्कालीन जिलाधीश, श्री पी. हैरिसन, आई.सी.एस. ने लिखा है: ''दयानन्द का मुख्य जोर सुधार के लिए लोगों को प्रेरित करने का है जिसका शायद अंतिम लक्ष्य भारतवासियों के हाथों में पुनः सत्ता दिलाना है। उनका आह्वान और उनकी प्रार्थनाएं विदेशी शासन का तख्ता तुरंत पलट

देने के लिए नहीं है बल्कि उनका उद्देश्य ऐसे सुधार लाना है, जिससे कि भविष्य में हिन्दू लोग अपना शासन स्वयं संभालने के योग्य हो सकेंगे।" दयानन्द और उनके आर्य समाज ने निश्चय ही जनता के मन में आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की गहरी भावना पैदा कर दी।

स्वराज और आत्मविश्वास की चर्चा विस्तार के साथ 'सत्यार्थ प्रकाश' के छठे समुल्लास में की गई है। राज्य के कर्तव्यों की चर्चा करते हुए दयानन्द ने स्वराज की कल्पना की है। उनके अनुसार राज्य को स्वयं अपनी रक्षा और स्थायित्व के लिए सभी नागरिकों को शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। जिस प्रकार ब्राह्मण को विद्वान होना चाहिए उसी प्रकार क्षत्रिय को भी सुशिक्षित और अनुशासित होना चाहिए तथा अपने राज्य की न्यायपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि अंग्रेज सरकार सभी को शिक्षा की सुविधा नहीं दे रही थी और ऐसा करके वह भारत के करोड़ों सामान्य नागरिकों को शिक्षा पाने के अधिकार से वंचित कर रही थी। ब्रिटिश सरकार निरंकुश सरकार थी। दयानन्द निरंकुशता के विरोधी और लोकतंत्र के समर्थक थे। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक कहा कि देश में एक विद्यार्य सभा, एक धर्मार्थ सभा और राजार्य सभा की स्थापना की जानी चाहिए तथा स्त्री-पुरुषों को शिक्षा, स्वतंत्रता, पवित्रता, प्रशिक्षण, धन आदि उपलब्ध कराके देश में सुख-समृद्धि, सम्पन्नता तथा ज्ञान की प्रतिष्ठा करने के कार्य में शासक और शासितों के बीच सहयोग होना चाहिए। अंग्रेज शासक इतने स्वार्थी थे कि वे देश के योग्य व्यक्तियों का सहयोग भी नहीं ले सकते थे। स्वामीजी ने अंग्रेजों की इस नीति की भी आलोचना की और कहा कि शासकों को सरकार के सुचारु संचालन के लिए कम-से-कम योग्य व्यक्तियों का सहयोग तो लेना ही चाहिए। निरंकुश ब्रिटिश सरकार भारत की सम्पदा को लूट रही थी और एक भूखे सिंह के समान भारतीयों का भक्षण कर रही थी। स्वामीजी ने ऐसे शासन और शासकों से सचेत रहने को कहा जिनके कारण भारतवासियों को ऐसी बर्बादी और दुख का सामना करना पड़ रहा था। स्वामीजी ने कहा कि निरंकुश शासक सत्ता के मद में चूर होकर प्रजा को बर्बाद कर देता है। जिस प्रकार हिंस्र जंतु मोटे-ताजे जानवरों को खा जाते हैं, ठीक उसी तरह एक निरंकुश शासक राज्य को नष्ट कर डालता

है। वह किसी को अपने से अधिक बलवान नहीं होने देता। वह धनी व्यक्ति को अन्यायपूर्ण दंड देकर लूट लेता है। जिस समय सारा देश राजनीतिक असंतोष से जल रहा था उस समय दयानन्द राज्य और शासन के सामान्य कर्तव्यों की ओर लोगों का ध्यान दिलाकर भारत के राष्ट्रीय पुनर्जागरण की शक्तियों का निर्माण कर रहे थे, लोगों के मानसिक दायरे को विस्तृत कर रहे थे, उनके हृदय की खिड़कियां खोल कर स्वतंत्रता की नयी बयार प्रवाहित कर रहे थे और उनके अंदर जीवन और देश के प्रति उच्चतर मूल्यों का सृजन कर रहे थे। भारत में आत्मविवेचना की तीव्र पीड़ा और सांस्कृतिक तथा बौद्धिक जागृति के एक गहन दौर का अब सूत्रपात हो चुका था।

स्वामीजी की दृष्टि में विजय ही सबसे महत्वपूर्ण चीज नहीं थी। उनका कहना था कि अंग्रेजों ने भारत को जीत भले ही लिया हो, लेकिन लोगों को अपमान के आगे झुकना नहीं चाहिए। शासक यदि अत्याचारी और अन्यायी हो तो उसकी विजय भी निरर्थक है। तोप-बंदूक और हथियारों के बल पर अन्यायी और निंदनीय शासक अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

दयानन्द ने कानून का भी सच्चा अर्थ जनता के सामने रखा। उन्होंने सरकार की कानून बनाने की नीति की आलोचना की। निस्संदेह अंग्रेज सरकार ने बहुत से कानून बनाए, लेकिन कानून तो सरकार के अधीन हैं। सरकार समय-समय पर पुराने कानूनों में रद्दोबदल करती थी और अपनी सुविधा तथा भारत की राजनीतिक स्थिति के अनुकूल नए कानून बना देती थी। राजा कानून बनाता था, कानून राजा नहीं बनाते थे। यही चीज देश में अराजकता और अव्यवस्था पैदा करने के लिए जिम्मेदार थी। स्वामीजी ने एक मजबूत प्रशासन स्थापित करने का समर्थन किया। अंग्रेजी कानून केवल अंग्रेजों की रक्षा करते थे, भारतीयों की नहीं। वे साम्राज्यवादी विस्तार को प्रोत्साहन देते थे। दयानन्द का कहना था कि ऐसे कानून एक गुलाम देश का उद्धार कभी नहीं करेंगे। उन्होंने भारतीयों को कानून की महत्ता इन शब्दों में समझाई कि कानून ही सर्वोपरि है, कानून ही सच्चा शासक है, कानून ही न्यायकर्ता है... कानून राजाओं पर भी शासन करता है, कानून प्रजा की रक्षा करता है, कानून उस समय भी जागता रहता है जब मनुष्य सोते हैं; इसीलिए बुद्धिमान लोगों का कहना है कि कानून ही धर्म है।

उन्होंने आगे कहा कि सोच-विचार कर लागू किया जाने वाला कानून प्रजा को सब प्रकार से सुख देता है। बिना विचारे लागू किया जाने वाला कानून सबका नाश कर देता है। उन्होंने शासकों को चेतावनी दी कि कानून का उचित प्रयोग न करने पर स्वयं उनका अस्तित्व मिट सकता है।

भारतीय बुद्धिजीवियों ने दयानन्द के कानून सम्बंधी विचारों के प्रकाश में सरकार के कानूनों की विवेचना की और पाया कि सरकार कानूनों का दुरुपयोग कर रही है और भारत को धीरे-धीरे करके पराधीन करती जा रही है। दयानन्द ऐसे हर शासक का विरोध करते थे जो प्रजा को कमजोर बनाए, फिर चाहे वह शासक देशी हो या विदेशी।

दयानन्द के समय में भारतवासी राजनीतिक और आर्थिक दासता से ग्रस्त थे। उन्हें भारी कर अदा करना पड़ता था। दयानन्द ने कहा कि वार्षिक कर की वसूली ईमानदार व्यक्तियों के जरिये की जानी चाहिए और राजा तथा उसके अधिकारियों को दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—शासन कार्य का सुचारु सम्पादन तथा जनता का हित-साधन।

दयानन्द को नवजागरण आंदोलन का अग्रदूत कहा जा सकता है। उनकी पुस्तकें और भारत के पुनरुत्थान तथा पुनरुज्जीवन की प्रक्रिया में उनकी सक्रिय भूमिका देश के उद्धार और प्रगति के कार्य में लगे लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गईं। उनके नेतृत्व में आर्य समाज उग्र धार्मिक प्रतिरोध का मंच बन गया। रूसो की भांति ही उनका भी कहना था कि सभी मनुष्य समान हैं। फ्रांस और रूस की क्रांति के लिए क्रमशः रूसो और कार्ल मार्क्स ने वैचारिक भूमिका तैयार की। दयानन्द ने वेदों की सहायता से भारतीय राष्ट्रवाद के लिए नैतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि तैयार की। उन्होंने व्यक्ति के नैतिक शुद्धीकरण और सामाजिक नव-निर्माण की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया।

स्वराज और आत्मविश्वास के विचार, दो स्पष्ट नजर आने वाली धाराओं की तरह साथ-साथ बहे जो किसी एक स्थान पर जाकर मिल जाती हैं। आर्यसमाजियों ने स्वराज के विचार का प्रचार करना शुरू किया। 'आर्य गजट' के 9 मई 1907 के अंक में शामलाल ने लिखा है : "अगर हम चाहते हैं

कि हमारा देश भी अमेरिका की तरह स्वतंत्र हो, तो हमें अपने अंदर बलिदान की भावना पैदा करनी चाहिए। समय आएगा, और अवश्य आएगा, जब हम स्वतंत्रता की धारा में तैरेंगे।'' लुधियाना के हरिनाथ मुकर्जी, लाहौर के महात्मा हंसराज, सियालकोट के रामचंद, होशियारपुर के देवीचंद, लाहौर के लाला लाजपत राय—इन सबने स्वराज की कल्पना को पसंद किया और उसे व्यापक रूप दिया। इसी प्रकार उस समय की अनेक पत्रिकाएं जैसे 'इंडिया', 'बिहारी', 'हिन्दुस्तान', 'हितकारी', आदि के नाम लिए जा सकते हैं जो स्वराज की भावना फैला रहे थे।

दयानन्द सरस्वती ने स्वदेशी पर बहुत जोर दिया। उन्हें इस आंदोलन का प्रवर्तक कहा जाता है, हालांकि बंगाल के विभाजन के बाद इस आंदोलन को राजनीतिक रंग दिया गया। उनकी राय थी कि देश को अपनी जरूरत की चीजें खुद अपने यहां पैदा करनी चाहिए। उन्होंने देश की दुखद आर्थिक स्थिति को देखा और यह समझने के बाद कि ब्रिटिश सरकार इस देश के उद्योग धंधों के संरक्षण के लिए कुछ नहीं करने वाली है, उन्होंने स्वदेशी आंदोलन चलाया। देश के आर्थिक नव-निर्माण और देश की सामाजिक तथा राजनीतिक एकता के लिए यह आंदोलन चलाना बहुत जरूरी था। ब्रह्मसमाजियों से दयानन्द की एक बड़ी शिकायत यह थी कि उन्हें विदेशी वस्तुओं से बहुत प्रेम था और स्वदेशी वस्त्र, स्वदेशी वस्तुओं और स्वदेशी संस्कृति के प्रति वे उदासीन थे। दयानन्द भारतीय भारत के प्रतीक थे और अंदर-बाहर से पूरी तरह भारतीय थे। उनके स्वदेशी सम्बंधी विचारों से पता चलता है कि उनकी सांस में भी स्वदेशी ही बसती थी और विचार तथा कार्य के ढंग में वह पूरी तरह भारतीय थे। एक बार वजीराबाद में स्वामीजी ने एक चाकू मांगा, और जब एक विदेश में बना चाकू उन्हें दिया गया तो क्षुब्ध होकर वह बोले कि यह दुख की बात है कि वजीराबाद में उन्हें वहीं का बना चाकू भी नहीं मिल सकता। ऐसा था उनका स्वदेशी का प्रेम।

दयानन्द की स्वदेशी की कल्पना ने सारे देश को आकृष्ट किया। उनके अनुयायियों ने स्वदेशी का जगह-जगह प्रचार किया और इस प्रकार स्वतंत्रता की राष्ट्रीय लड़ाई वर्गों तक सीमित न रहकर, अब जन-संघर्ष में

बदल गई। स्वदेशी का प्रचार करने के लिए लाला लाजपत राय ने पंजाब में जगह-जगह भाषण दिए। एक जनसभा में उन्होंने छात्रों का आह्वान किया कि वे स्वदेशी को बढ़ावा देने के लिए अपना खून भी बहाने के लिए तैयार रहें। उन्होंने कहा कि नौजवानों, तुम्हारा खून गर्म है। राष्ट्र रूपी वृक्ष को सींचने के लिए खून की जरूरत है... आओ, राष्ट्रीय प्रगति की खातिर हम अपनी खुदी को भुला दें। दुनिया के इतिहास को छात्रों ने लाल अक्षरों में लिखा है। बूढ़े वह नहीं कर सकते जो नौजवान कर सकते हैं। आइए, हम अपने राष्ट्रीय और स्वदेशी के आंदोलन को अपनी शहादत का ताज पहनाएं, ताकि वह वक्त जल्दी आए, जब हमारे राष्ट्र की गिनती संसार के राष्ट्रों में की जाने लगे। यदि नौजवान प्रण कर लें तो हम हमेशा जिन्दा रहेंगे, हमें कोई नहीं मार सकता। इलाहाबाद की एक सभा में बोलते हुए उन्होंने अपने देशवासियों को ब्रिटिश माल का बहिष्कार करने और अपने झगड़े तय करने के लिए स्वदेशी पंचायतें स्थापित करने का सुझाव दिया। 1907 में लालाजी ने सूरत में स्वदेशी कांफ्रेंस की अध्यक्षता करते हुए स्वदेशी आंदोलन की सफलता के लिए हिन्दू-मुसलमानों से एक होने की अपील की। आर्य समाज के सदस्य के नाते वह बहुत पहले ही स्वदेशी के समर्थक हो गए थे। बाद में स्वदेशी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का राजनीतिक अस्त्र और एक लोकप्रिय नारा बन गया। भारत की आर्थिक मुक्ति की कामना उनके मन में थी, और राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए वह आत्मनिर्भरता और आत्मसहायता को जरूरी मानते थे।

लालाजी के अलावा अन्य आर्यसमाजी नेताओं ने भी स्वदेशी आंदोलन को लोकप्रिय बनाने का काम किया। सुंदरलाल, बाबू प्यारेलाल, रामभजदत्त, बीरेन्द्रनाथ ब्रह्मचारी और अन्य लोगों ने इसके लिए बहुत काम किया। 'सद्धर्म प्रचारक', 'आर्य गजट', 'द पंजाबी', 'द आर्य मैसेंजर' आदि पत्रिकाओं ने स्वदेशी की सराहना करते हुए भारतीयों से स्वदेशी आंदोलन में सक्रिय भाग लेने की अपील की।

राष्ट्र को नवजीवन प्रदान करने की स्वामीजी की योजना में राष्ट्रभाषा के प्रश्न को भुलाया नहीं गया था। उनकी राय में, चूंकि सभी क्षेत्रीय भाषाओं

की तुलना में हिन्दी सबसे व्यापक क्षेत्र में बोली और समझी जाने वाली भाषा थी और उसकी लिपि बहुत ही वैज्ञानिक थी, अत: उसे राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया जाना चाहिए। जन्म से गुजराती होते हुए भी उन्होंने अपने प्रांत की भाषा के मुकाबले आर्य भाषा (हिन्दी) को अपनाया और अपना ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में ही लिखा। वेदों का भाष्य भी उन्होंने हिन्दी में ही लिखा। उनके द्वारा लिखित वेदों का भाष्य भारत के साहित्यिक जगत की युग प्रवर्तक कृति मानी जाती है। इससे उत्साहित होकर हिन्दुओं की गैर ब्राह्मण जातियों ने एक नए बौद्धिक आत्मविश्वास का अनुभव किया। दयानन्द को पश्चिम के ज्ञान का कोई परिचय नहीं था। वह तो संस्कृत के ज्ञाता थे। किन्तु उनके राष्ट्रवाद ने पश्चिमी शिक्षा प्राप्त भारतीयों को आकृष्ट किया। दयानन्द के अंदर जो ज्ञान-विदग्ध ऋषि था, उसने जन मानस को प्रभावित किया। दयानन्द ने अपनी शिक्षा और प्रवचन हिन्दी में दिए जिससे कि वह जन-जन तक अपनी बात पहुंचा सकें।

दयानन्द ने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने में सहायता दी। आज अनेक शिक्षाविद् समझने लगे हैं, लेकिन दयानन्द ने यह बात बहुत पहले ही समझ ली थी और यह कहा था कि भारतीय विद्यार्थियों को विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ाना उनके लिए बोझ है, और जहां तक हो सके, यह शिक्षा उन्हें अपने देश की भाषा में ही दी जानी चाहिए। वह यह कदापि नहीं चाहते थे कि अंग्रेजी की उपेक्षा की जाए, किन्तु वह यह जरूर चाहते थे कि देश की भाषा को उसका समुचित स्थान मिले। वह चाहते थे कि सभी भारतीयों को अपनी भाषा, संस्कृति और परम्पराओं का ज्ञान होना चाहिए, वरना कहीं ऐसा न हो कि वे इस हद तक अंग्रेजी-दां हो जाएं कि उन्हें कपिल और पतंजलि की जानकारी कम और बेकन तथा मिल की जानकारी ज्यादा हो। इस बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने संस्कृत और हिन्दी की ओर ज्यादा जोर दिया।

दयानन्द के निधन के बाद भी आर्यसमाजियों ने हिन्दी के गौरव को बढ़ाने का काम जारी रखा। उनके इस कार्य को महात्मा गांधी सहित कांग्रेस के बड़े-बड़े नेताओं ने अपना समर्थन दिया। आधुनिक हिन्दी के साहित्यिक इतिहास में दयानन्द को हिन्दी का सबसे बड़ा संरक्षक माना जाता है।

भारतीय भाषाओं को आगे बढ़ाने में लाला लाजपत राय और अनेक अन्य आर्यसमाजी नेताओं ने सराहनीय योगदान दिया। जब लालाजी ने हिन्दू एलीमेंट्री एजुकेशन लीग की स्थापना की और घोषणा की कि छात्रों को हिन्दी में शिक्षा दी जाएगी तो अखबारों में इस बारे में काफी विवाद छिड़ा। लेकिन लालाजी अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। उनके मत का अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने जोरदार समर्थन किया। 'ट्रिब्यून' ने लिखा कि हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है। 'प्रकाश' ने अपने 5 सितम्बर 1911 के अंक में लालाजी का एक लेख प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था कि दयानन्द ने हिन्दी को अपने संदेश वाहक के रूप में चुना और उसी के माध्यम से उन्होंने देशवासियों तक अपनी आवाज पहुंचाई। स्वामीजी ने अपने अनुयायियों से हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने को कहा। अतः यह उचित ही होगा कि भारतवासी हिन्दी को अपनी भाषा के रूप में स्वीकार कर लें। इलाहाबाद के 'अभ्युदय' और आगरा के 'आर्यमित्र' ने भी इस मत का समर्थन करते हुए हिन्दी को सभी स्कूलों और कालेजों में शिक्षा के माध्यम के रूप में लागू करने का आग्रह किया।

दयानन्द की आक्रामकता ने भारतीय राष्ट्रवाद को गतिशीलता का तत्व प्रदान किया। इस नई भावना के प्रमुख प्रवक्ता थे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, विपिन चंद्र पाल, लाला लाजपत राय और अरविन्द घोष। तिलक की विचारधारा का उद्भव दयानन्द की विचारधारा में से हुआ था। तिलक की विचारधारा ने अंग्रेजी शिक्षित भारतीयों के राजनीतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन उत्पन्न कर दिया और राष्ट्रीय आंदोलन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। तिलक-विचारधारा वाले नए नेतृत्व का आग्रह क्रांतिकारी परिवर्तन, शासन पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन की अपेक्षा करता था जिसे 'स्वराज' और 'स्वदेशी' जैसे शब्दों में अभिव्यक्ति मिली। अब राष्ट्रवाद स्वराज और स्वदेशी की मांग कर रहा था और यही अब भारतीय राजनीतिक कार्यक्रम का लक्ष्य बन गया। इस नई विचारधारा वाले लोगों ने सामाजिक समानता और राजनीतिक विमुक्ति को अपने जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप में प्रस्तुत किया। इस विचारधारा वाले नेताओं ने भारत की प्राचीन विरासत से शक्ति प्राप्त करके धार्मिक देशभक्ति की दुहाई देकर

भारतवासियों को पुकारा। राजा राममोहन राय और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के विपरीत उन्होंने अंग्रेजी शासन को देवी अनुकम्पा न मान कर उसे एक भ्रम जाल बताया। तिलक और उनके साथी इंग्लैंड के प्रति निष्ठा के विरोधी थे और उनका मत था कि क्रांति धीरे-धीरे सुधार के बजाय तीव्र गति से विकास करने का नाम है। गरमपंथियों ने अंग्रेजों के राजनीतिक विचारों को अपने तर्कों और याचिकाओं के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त नहीं किया बल्कि अपने उचित अधिकारों की मांग के लिए अपनी वक्तृता और लेखनी का प्रयोग अपने अस्त्रों के रूप में किया। वे हिंसक तरीकों के विरुद्ध थे। उन्होंने भारत की प्राचीन गरिमा की ओर लोगों का ध्यान दिलाया और अंग्रेजों से आजादी पाने के लिए बहस का तरीका छोड़ कर संघर्ष का रास्ता अपनाने को कहा। वे ब्रिटिश सरकार को एक निरंकुश विदेशी शासन मानते थे और भारत को इस शासन से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। तिलक ने गणपति उत्सव और शिवाजी जयंती को सार्वजनिक रूप से मनाने का आयोजन शुरू किया और इस प्रकार भारत की प्राचीन गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित किया। त्रिपुरारि चन्द्रपाल ने राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण को प्राचीन शक्ति-पूजा का ही रूप बताया। लाला लाजपत राय कट्टर आर्यसमाजी थे। उन्होंने दयानन्द के रास्ते पर चलते हुए वेदों और हिन्दी को लोकप्रिय बनाने का अभियान चलाया। इस मामले में तो उन्होंने एक कदम और आगे बढ़कर कहा: "मेरा यह विश्वास है कि वेदों में विज्ञान के ऐसे सत्य मौजूद हैं जिनकी जानकारी आधुनिक जगत को नहीं है, और इस अर्थ में दयानन्द ने वेदों के ज्ञान की गहराई और व्यापकता को कुछ कम करके ही बताया, अतिशयोक्ति का तो सवाल ही नहीं है।" दयानन्द के दर्शन ने एक नई भावना को जन्म दिया। उग्रपंथी दल और लड़ाकू राष्ट्रवाद एक धार्मिक भावना से ओतप्रोत था। राष्ट्रवाद और धार्मिक पुनर्जागरण से लोगों के भीतर पुरुषोचित आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न हुई, विदेशी प्रभुत्व का विरोध करने का संकल्प और आवश्यकता पड़ने पर सर्वस्व त्याग करने की उत्कट भावना पनपी।

हर विलास शारदा ने लिखा है: "कृष्ण, बुद्ध और ईसा के समान दयानन्द एक महापुरुष थे जिन्होंने मनुष्य जाति का नैतिक स्तर ऊंचा

उठाया और मानव कल्याण का रास्ता प्रशस्त किया।'' उन्होंने लोगों के सामने आचरण के ऊंचे आदर्श प्रस्तुत किए। लोगों के भार को हल्का करने तथा भारत में अन्याय, कष्टों, दुखों, और अज्ञान को दूर करने के लिए उन्हें सत्य, प्रकाश और आनंद की ओर अग्रसर किया। राजनीतिक स्वतंत्रता दयानन्द का मुख्य लक्ष्य था। 'स्वराज' शब्द का प्रयोग करने वाले वह प्रथम व्यक्ति थे, विदेशी वस्तुओं का त्याग करके स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने की सलाह उन्होंने ही पहली बार जनता को दी। हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने वाले वह सबसे पहले व्यक्ति थे। ओ. मैली के शब्दों में वह सच्चे अर्थों में पूर्ण भारतीय थे जिन्होंने हिन्दी को अपनाया और कुरीतियों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ी।

दयानन्द के प्रेरक राजनीतिक संदेश का उनके अनुयायियों पर बड़ा ही चमत्कारी प्रभाव पड़ा। उनके जीवनकाल में ही नहीं, बल्कि स्वामीजी के निधन के बाद भी हम देखते हैं कि वे (आर्यसमाजी) अपने गुरु की शिक्षाओं का निष्ठापूर्वक अनुसरण कर रहे हैं। भारत भर में उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लिया। पंजाब में उनकी गतिविधियों का विवरण देते हुए पंजाब के ले. गवर्नर सर डैजिल इबर्टसन ने कहा था : ''मुझे पंजाब में लगभग हर जिले के जिलाधीश ने बताया है कि जहां कहीं भी आर्य समाज की शाखाएं हैं, वहां-वहां राजद्रोह के केन्द्र हैं। बाद में उनके उत्तराधिकारी सर माइकेल ओ डायर ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त करते हुए कहा : ''कट्टरपंथी हिन्दुओं के प्रति न्याय की मांग मुझे यह कहने के लिए विवश करती है कि पंजाब में अधिक-से-अधिक पांच प्रतिशत लोग ही आर्य समाज के सदस्य हैं लेकिन 1907 से लेकर आज तक (1919) जो हिन्दू राजद्रोह तथा अन्य राजनीतिक अपराधों के लिए दंडित किए गए हैं, उनका बहुत बड़ा प्रतिशत आर्य समाज के सदस्यों का है।'' राजस्थान, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में भी आर्यसमाजियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में आगे बढ़कर भाग लिया। कई यूरोपीय विद्वानों का तो यह भी मत है कि 1905 में बंगाल में जो आंदोलन हुआ, उस पर भी आर्य समाज का प्रभाव था।

कुछ प्रमुख नेता और स्वतंत्रता सेनानी या तो स्वामी दयानन्द के

अनुयायी और आर्य समाज के सदस्य थे अथवा उनसे प्रभावित थे। इनमें से कुछ प्रमुख लोगों में थे: लाजपत राय (1865-1928); अजित सिंह (मृत्यु(1947); एम.जी. रानडे (1842-1901); स्वामी श्रद्धानंद (1857-1930); भाई परमानंद (1874-1948); श्यामजी कृष्ण वर्मा (1957-1926); इंद्र विद्या वाचस्पति (1889-1963); भगवती चरण (मृत्यु1930); भगतसिंह (1907-1931); राम प्रसाद बिस्मिल (मृत्यु-1927); रोशन सिंह (1894-1927); गेंदालाल दीक्षित (1888-1920); मदनलाल धींगड़ा (1887-1909) भाई बालमुकुन्द (1880-1915) मुरलीधर (1830-1923) देशबंधु गुप्ता (1910-1951)। इस तरह हम देखते हैं कि पंजाब के एक उच्च पदस्थ ब्रिटिश अधिकारी का यह कथन सर्वथा ठीक ही है कि "आर्य समाज का सिद्धांत राष्ट्रवाद है और राष्ट्रीय राजनीति इसके सदस्यों को रुचिकर लगती है।"

भारत में गरमदलीय राजनीति के तीन स्तम्भों में से लाला लाजपत राय एक थे। दयानन्द की शिक्षाओं ने उन्हें बहुत प्रभावित किया और 1882 में वह आर्य समाज में शामिल हो गए। यह उनके जीवन का एक बहुत महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुआ और वह इस घटना को हमेशा गर्व और कृतज्ञता से स्मरण करते थे। समाज के साथ उनका सम्बंध उसके धार्मिक सिद्धांतों को लेकर उतना नहीं था बल्कि समाज की राष्ट्रवादी विचारधारा, उसके समाज सुधार के कार्यक्रम और शिक्षा के क्षेत्र में उसके कार्य से वह विशेष रूप से जुड़े। आर्य समाज ने उनकी देशभक्ति, आत्मत्याग, आत्मनिर्भरता और आत्मसहायता की भावना को उद्दीप्त किया। वह दयानन्द सरस्वती के सच्चे अनुयायी, एक उत्कट देशभक्त, महान दानी, शिक्षाविद्, धार्मिक सुधारक और सामाजिक कार्यकर्ता बने। समाज ने ही उन्हें राजनीति के ज्यादा विशाल और ज्यादा महत्वपूर्ण क्षेत्र में उतरने के लिए पूरी तरह प्रशिक्षित किया।

लालाजी 1888 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हुए और शीघ्र ही उसके एक प्रमुख नेता और अपने समय के महान वक्ता बन गए। ब्रिटेन के लार्ड जार्ज और भारत के लाजपत राय की तुलना उचित ही है क्योंकि दोनों

ही जनता को अपनी वक्तृता शक्ति से उद्वेलित कर देने की अप्रतिम क्षमता रखते थे। उग्रवादी विचारधारा के अन्य नेताओं की भांति वह भी कट्टर देशभक्त थे। अपने देश, अपनी सभ्यता, भारतीय साहित्य और विश्व में भारत के उच्च स्थान पर उन्हें अभिमान था। उनको भारत के महान भविष्य में पूरा विश्वास था जो उतना ही महान होगा जितना कि उसका अतीत था। लेकिन फिलहाल वह एक पराधीन देश था जिस पर एक विदेशी ताकत शासन कर रही थी, उसकी जनता की अपने देश के राज-काज में कोई आवाज नहीं थी और न अपने भविष्य के निर्माण में उसका कोई हाथ था। भारत की ऐसी दुर्दशा देखकर उन्हें व्यथा होती थी। उन्होंने स्वराज, स्वदेशी और बहिष्कार को भारत के नए धर्म के रूप में स्वीकार किया। ब्रिटेन में अपने प्रवास के दौरान उन्होंने वहां कुछ जन प्रदर्शन देखे थे, और उन्होंने भारत में भी ब्रिटिश राज के विरुद्ध इसी प्रकार के हथियार के प्रयोग की वकालत की। वह चाहते थे कि कांग्रेस के कार्यक्रम में इस तरह के परिवर्तन किए जाएं जिससे कि वह जनता को स्वीकार्य हों और राष्ट्रीय आंदोलन में उनका समर्थन कांग्रेस को मिल सके। लखनऊ के बाबू गंगाप्रसाद को एक पत्र में उन्होंने लिखा था: ''आप जब तक कांग्रेस-आंदोलन के स्वरूप में इस प्रकार का परिवर्तन नहीं करते, तब तक आप राजनीतिक स्वतंत्रता की दिशा में कोई प्रगति नहीं कर सकते। मुझे विश्वास है कि यदि कांग्रेस इस मामले में पहल नहीं करती तो ऐसा करने के लिए कोई अन्य आंदोलन खड़ा होगा और तब कांग्रेस का महत्व खत्म हो जाएगा।''

स्वामी श्रद्धानंद की भांति ही लाला लाजपत राय भी राष्ट्र निर्माता थे। उन्होंने भारतीयों से कहा कि वे विदेशी सहायता पर निर्भर न करें और न राजनीतिक रियासतों के लिए अंग्रेज शासकों से भीख मांगें। उन्होंने कहा कि अंग्रेज को भीख मांगने से सबसे ज्यादा घृणा है और भिखारी घृणा का पात्र होता है। राष्ट्र का निर्माण स्वयं उस राष्ट्र के लोग ही करते हैं। वह दूसरे देशों का सहयोग और मार्गदर्शन लेने को तैयार थे, लेकिन उनका संरक्षण लेने को कदापि नहीं। उन्होंने भारतवासियों की श्रेष्ठता का सिद्धांत स्वामी दयानन्द से ग्रहण किया था। उन्होंने कहा कि हम इस पृथ्वी पर किसी से भी हीन नहीं

हैं। निजी जीवन या सार्वजनिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में हम किसी भी राष्ट्र के मुकाबले कम नहीं हैं। हम किस बात में कम हैं? हम आपसी एकता स्थापित करने के मामले में कम हैं, कुछ हद तक हम आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल अपने को ढाल सकने में कम हैं, हम आधुनिक कूटनीति से सबक लेने के मामले में पीछे हैं। एक राष्ट्र निर्माता के रूप में उन्होंने लोगों से त्याग और बलिदान की मांग की। उन्होंने कहा कि भारत की बुनियादी समस्याओं को भाषणों और क्रांतियों से ही हल नहीं किया जा सकता। आवश्यकता है देश के लिए त्याग और बलिदान की। उन्होंने अधिकारों के लिए गिड़गिड़ाने के बजाय अधिकारों की मांग करने पर बल दिया।

दयानन्द ने स्वराज को परिभाषित किया था; लाजपत राज ने स्वराज की मांग की। उन्होंने कहा कि उच्च आत्मा वाला व्यक्ति अपनी बेड़ियां काटकर फेंक सकता है। आत्माविहीन व्यक्ति केवल पशु है। आत्माविहीन राष्ट्र मूक पशुओं का रेवड़ मात्र है, और आज भारतीय लोग ही रेवड़ मात्र बन कर रह गए हैं। अतः उन्होंने अपने देशवासियों से ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघर्ष करने और स्वराज के लिए खून बहाने की अपील की।

लालाजी ने कहा कि भारत की ऐतिहासिक और धार्मिक एकता ही हमारे राष्ट्रवाद का आधार है, और भारतीय राष्ट्रवाद के विकास का श्रेय केवल पाश्चात्य प्रभाव को देना गलत है। उन्होंने कहा कि भारतीय राष्ट्रवाद की कल्पना व्यापक होनी चाहिए जिसके दायरे में समान भाषा और समान भविष्य के भागीदार सभी लोग शामिल हैं। ऐसा न भी हो तो भी भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए इतना ही पर्याप्त है कि सभी भारतीय अपने मतभेदों के बावजूद एक समान शत्रु के विरुद्ध लड़ाई में एकता की भावना से काम लें।

लाजपत राय ने हिन्दू मुस्लिम एकता की जोरदार वकालत की और स्वराज हासिल करने के लिए संकल्प बद्ध होकर एक होने की अपील की। उन्होंने अनेक स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भाषण दिए और दोनों जातियों के बीच मैत्री-भावना उत्पन्न करने में सफल हुए। 20 फरवरी

1920 में बम्बई की एक सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा : "मेरे दोस्तो, हमें आज के इस सिद्धांत को मानकर चलना होगा कि हमारे राजनीतिक भविष्य के लिए दोनों जातियों के बीच एकता बहुत बड़ी पूंजी साबित होगी। इस एकता में हम 'इस' या 'उस' जाति से होने वाले अस्थाई लाभों का विचार नहीं करेंगे। हम इसे एक राजनीतिक आवश्यकता नहीं मानेंगे, बल्कि इस एकता को एक बुनियादी सिद्धांत के रूप में स्वीकार करेंगे और आजादी हासिल न होने तक एक साथ जिएंगे और मरेंगे। स्वतंत्रता मिलने के बाद भी हम एक साथ काम करने, एक साथ लड़ने और जीतने का संकल्प लेकर इस देश में भाइयों की तरह रहेंगे। यह एक सिद्धांत है जिसे हमें अपने राजनीतिक सिद्धांत के रूप में अंगीकार करना चाहिए।"

लाजपत राय ने सामाजिक क्षेत्र में इस नई भावना का प्रचार-प्रसार किया। उनके और आर्य समाज के मतानुसार 'सुधार का अर्थ पुनर्जागरण, और पुनर्जागरण का अर्थ सुधार' था। सामाजिक कुशलता को वह राष्ट्रीय समृद्धि की कुंजी मानते थे। राष्ट्रीय जीवन के लिए सामाजिक सुधार का सर्वाधिक महत्व था और सामाजिक कार्य कुशलता पर ही राष्ट्र का सारा भविष्य निर्भर करता था। लालाजी को आर्यों की महानता, वेदों, वैदिक धर्म और स्त्रियों के उत्थान कार्य से विशेष प्रेम था।

लाजपत राय को आर्य समाज और भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। महात्मा गांधी ने कहा था कि लालाजी स्वयं एक संस्था हैं। युवावस्था से ही देश सेवा को उन्होंने धर्म माना था। उन्हें अपने देश से प्रेम था क्योंकि वह सारे विश्व से प्रेम करते थे। उनका राष्ट्रवाद अंतर्राष्ट्रीयवाद का एक अंग था। वह एक उत्साही सामाजिक और धार्मिक सुधारक थे।

कांग्रेस संगठन में रहते हुए लालाजी ने कांग्रेस आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया। उन्होंने 1887 में मद्रास के कांग्रेस-अधिवेशन में भाग लिया और इसके साथ ही वह उससे हमेशा के लिए जुड़ गए। सर सैयद अहमद खां ने अपने मुसलमान देशवासियों को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी थी। इस पर लालाजी ने उनके नाम एक खुला पत्र लिखा था। इलाहाबाद में

कांग्रेस का चतुर्थ अधिवेशन जार्ज यूल की अध्यक्षता में हुआ। लालाजी भी इसमें सम्मिलित हुए और इसमें उन्होंने सर सैयद के विचारों की आलोचना अपने एक संक्षिप्त भाषण में की थी।

1893 में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ। यहां लालाजी की प्रथम भेंट लोकमान्य तिलक से हुई और दोनों मित्र बन गए। 1901 की कलकत्ता कांग्रेस में लालाजी ने बहुत सक्रिय भूमिका निभाई। वहां अपने भाषण में लालाजी ने कांग्रेस से अपने मेला समारोह वाले स्वरूप को त्यागने और ऊंचे-ऊंचे आदर्शों और शब्दाडंबरों का खेल छोड़कर गम्भीरतापूर्वक कुछ ठोस काम करने को आग्रह किया। कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन से पहले वह दो लेख प्रकाशित करा चुके थे। पहले लेख का शीर्षक था: 'द इकनामिक ऐंड इंडस्ट्रियल कैंपेन इन इंडिया'। इसमें उन्होंने भारत की गरीबी के लिए सरकार और कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं को दोषी बताया था। दूसरे लेख का शीर्षक था: 'द कमिंग इंडियन नेशनल कांग्रेस'। इसमें उन्होंने कांग्रेस की कार्य-पद्धति, उसके उद्देश्य और उसके स्वरूप की आलोचना की थी। उन्होंने कांग्रेस पर आरोप लगाया कि सारे देश की ओर से बोलने की अपनी चिन्ता में वह मिथ्या हिन्दू-मुस्लिम एकता का दिखावा करती है, जबकि सच यह था कि अधिकांश मुसलमानों की सहानुभूति कांग्रेस के साथ नहीं थी। उन्होंने सुझाव दिया कि सभी जातियों और वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाली एक संस्था होने का स्वांग करने के बजाय कांग्रेस को एक निर्भीक हिन्दू राजनीतिक संस्था होना चाहिए। झूठी एकता की बात करने से हिन्दुओं की एकीकृत संगठित मोर्चा बनाने की सम्भावना पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसी लेख में उन्होंने राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन की भी कड़ी आलोचना की।

1905 में लालाजी, गोपालकृष्ण गोखले के साथ इंग्लैंड गए जहां उनका इरादा भारत की मांगों को वहां की जनता के सामने रखना था। लालाजी ने अपना पहला भाषण नेशनल डैमोक्रेटिक लीग की सभा में दिया, जिस पर सर हेनरी काटन ने गहरा रोष व्यक्त किया। अगस्त माह में उन्होंने केटरिंग में लिबरल पार्टी की बैठक और लिंकन शायर में लेबर पार्टी की बैठक में

भाषण दिए। वह अमेरिका भी गए जहां न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया और बोस्टन की सभाओं में भाषण दिए। धीरे-धीरे लालाजी की विचारधारा उग्र होती गई और वह तिलक गुट में शामिल हो गए। गरमदलीय नेता के रूप में उन्होंने नरमदल वाले कांग्रेस नेताओं की तीखी आलोचना की और स्वराज की मांग रखी। बाद में महात्मा गांधी के आह्वान पर असहयोग आंदोलन में भाग लिया। 30 अक्तूबर 1928 में लाला लाजपत राय ने महामना मदन मोहन मालवीय के साथ साइमन कमीशन के विरोध में एक विशाल जुलूस का नेतृत्व किया, जिस पर पुलिस के बर्बर आक्रमण के कारण लालाजी को लाठियों से इतनी निर्दयता से पीटा गया कि वह गम्भीर रूप से घायल हुए और फलस्वरूप 17 नवम्बर को उनका निधन हो गया। उन्होंने अपने मित्रों, प्रशंसकों और देशवासियों के लिए आत्मबलिदान का एक शानदार उदाहरण प्रस्तुत किया। वह अपने देश के सामने देशभक्ति, स्वतंत्रता के लिए अथक परिश्रम और समाज-सुधार की अपूर्व लगन की अपनी मिसाल छोड़ गए।

स्वामी श्रद्धानंद एक अन्य महान आर्य समाजी नेता थे जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की गति को और तीव्र बनाया। स्वामीजी को अंग्रेज सरकार अपने लिए बहुत बड़ा 'सरदर्द' मानती थी। स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था और इन पर वह आजीवन चले। युवावस्था में जब उन्होंने आर्य समाज में प्रवेश किया तो सभी ने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया था। एक वरिष्ठ आर्यसमाजी नेता ने उस समय कहा था कि वह युवक आर्य समाज में नए उत्साह का संचार करेगा। उनकी यह भविष्यवाणी सच सिद्ध हुई।

स्वामी श्रद्धानंद ने देखा कि सामाजिक प्रगति में ही भारत की प्रगति की कुंजी छिपी है, अतः उन्होंने आर्य समाज के आदर्शों को लेकर सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में कार्य किया। उनके मन में स्त्रियों के लिए बहुत सहानुभूति थी और उनके उद्धार तथा प्रगति के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहे। वह पर्दा प्रथा के सख्त खिलाफ थे। अपनी पत्नी को भी इस प्रथा से उन्होंने छुटकारा दिलाया। वह लड़कियों की शिक्षा के भी हिमायती थे।

अपनी सबसे बड़ी लड़की को उन्होंने जालंधर के एक मिशन स्कूल में दाखिल किया। उन्होंने लाला देवराज की सहायता से लड़कियों के लिए एक स्कूल की स्थापना की, जो कन्या महाविद्यालय के रूप में अच्छा काम कर रहा है। उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' नामक एक पत्र भी आरम्भ किया। इसके जरिए उन्होंने समाज के शिक्षा सम्बंधी विचारों का प्रचार-प्रसार करना शुरू किया। आर्य समाज के कार्य में यह पत्र बहुत सहायक सिद्ध हुआ। दयानन्द सरस्वती के सम्पर्क में आने के बाद उन्होंने सभी प्रकार की रूढ़िवादिता के विरुद्ध जेहाद छेड़ने और प्राचीन वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का बीड़ा उठाया। आर्य समाज से ही उन्हें धर्म और स्वराज के लिए प्राणोत्सर्ग कर देने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। आर्य समाज ने ही उनके भीतर आर्यों की महानता के प्रति अभिमान की भावना जगाई थी। संक्षेप में सार्वजनिक जीवन में जो कुछ उन्होंने किया, उसकी शिक्षा उन्हें आर्य समाज ने ही दी थी।

आर्य संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का सर्वोत्तम तरीका था, एक गुरुकुल की स्थापना करना। इसमें बालकों को छह वर्ष की आयु से पच्चीस वर्ष की आयु तक प्राचीन आर्य शिक्षा के आदर्शों के अनुरूप शिक्षा देने का विचार किया गया। यह एक नया विचार था। गुरुकुल स्थापना के मार्ग में अनेक बाधाएं थीं किन्तु श्रद्धानंद की लगन और उत्साह ने सारी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर ली। उन्होंने इस कार्य के लिए काफी बड़ी राशि एकत्र कर ली और 1902 में हरिद्वार के निकट कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना कर दी। हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। यहां छात्रों ने ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भारत की प्राचीन संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करना शुरू किया। यह एक स्वशासी संस्था थी और स्वामी श्रद्धानंद 1921 तक इसके गवर्नर रहे।

स्वामी श्रद्धानंद सामाजिक कार्यकर्ता होने के साथ-साथ एक संन्यासी योद्धा भी थे। 1918 में अकाल के दौरान स्वामीजी ने गढ़वाल के अकाल-पीड़ितों के लिए राहत-कार्य संगठित किया और अनाज बांटने का काम किया। उन्होंने शुद्धि आंदोलन के जरिए विधर्मियों को भी हिन्दू धर्म में दीक्षित किया और अखिल भारतीय शुद्धि सभा स्थापित की। वह भारत में

संगठन आंदोलन के प्रवर्तकों में से एक थे। राजपूताना में उन्होंने बहुत से गैर हिन्दुओं को हिन्दू धर्म में शामिल किया। वह अछूतों के मसीहा थे और उनके हित और कल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। उन्होंने दिल्ली में 'दलितोद्धार सभा' स्थापित की और दलित वर्गों का सामाजिक दर्जा उठाने का काम किया। वह हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता के भी समर्थक थे और अखिल भारतीय कांग्रेस संगठन की सहायता से वह इसके लिए प्रयत्नशील रहे। एक संन्यासी योद्धा होने के नाते वह बहुत कर्मठ व्यक्ति थे और राजनीतिज्ञों की फालतू बहसबाजी एवं निष्क्रियता उन्हें सहन नहीं होती थी। जुझारू होने के कारण वह किसी चुनौती का सामना करने से कतराते नहीं थे, आलोचना या दूसरों द्वारा हंसी उड़ाए जाने की परवाह नहीं करते थे। वह तो द्रष्टा थे, क्योंकि वह अपने समय से बहुत आगे थे। उन्होंने एक पूरी संस्कृति के निर्माण में योगदान दिया था। वह हिन्दी से प्रेम करते थे किन्तु अपने विचारों को अंग्रेजी में व्यक्त करने से उन्हें परहेज नहीं था। उनकी अंग्रेजी साप्ताहिक पत्रिका 'लिबरेटर' ने भारतीयों के दिलोदिमाग में स्फूर्ति और साहस का संचार किया। स्वामी दयानन्द की भांति ही स्वामी श्रद्धानंद स्वराज पाने के लिए अधीर थे और उसके लिए लड़ने को सन्नद्ध रहते थे। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लिया, रोलेट ऐक्ट के विरुद्ध संघर्ष किया और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए निरंतर प्रयत्न किया। अंत में उन्होंने इन्हीं आदर्शों की खातिर अपने जीवन की आहुति भी दे दी। सी.एफ.एण्ड्रयूज के शब्दों में स्वामीजी सचमुच ही आर्यावर्त के एक महान योद्धा सिद्ध हुए।

स्वामी श्रद्धानंद आर्यसमाजियों के खेमे से कांग्रेस में शामिल होने वाले दूसरे व्यक्ति थे। वह 1888 में कांग्रेस में शामिल हुए। उन्हें जालंधर कांग्रेस का मंत्री नियुक्त किया गया। उन्होंने पंजाब के विभिन्न भागों में कांग्रेस के उद्देश्यों पर कई भाषण दिए। लेकिन 1893 के लाहौर अधिवेशन के उपरांत उन्होंने यह सोचकर कांग्रेस से स्वयं को अलग कर लिया कि यह लोगों के नैतिक चरित्र को मजबूत करने के लिए कुछ भी नहीं कर रही है। उन्होंने अपनी सारी शक्ति एकेश्वरवाद का प्रचार करने और गुरुकुल की नींव डालने में लगा दी।

स्वामीजी ने कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन (दिसम्बर 1899) में भाग लिया और वहां राजनीतिज्ञों के सामने गुरुकुल सम्बंधी अपना संदेश दिया। लेकिन किसी ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। इस उपेक्षा से उन्हें बड़ी निराशा हुई। अतः अगले छह वर्षों तक श्रद्धानंद ने कांग्रेस के किसी अधिवेशन में भाग नहीं लिया। अगले वर्ष 1907 में जब सूरत में कांग्रेस अधिवेशन बुलाया गया तब उन्होंने गरमदल और नरमदल वालों के सम्बंधों को मधुर बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने इलाहाबाद अधिवेशन में भी भाग लिया और कांग्रेस प्रतिनिधियों को यह समझाने की कोशिश की कि न्याय का तक़ाजा है कि अछूतों को पूर्ण सामाजिक और धार्मिक अधिकार प्रदान किए जाएं। 1916 में लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में वह फिर शामिल हुए। अपने भाषण में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता पर जोर दिया। महात्मा गांधी द्वारा सत्याग्रह आंदोलन आरम्भ करने पर स्वामीजी ने इसे सफल बनाने के लिए उसमें सक्रिय रूप से भाग लिया। उन्होंने अंग्रेजी अदालतों का बहिष्कार करने और देशी पंचायतें गठित करने का भी प्रस्ताव रखा और कम-से-कम दस जिलों को अक्तूबर 1919 तक इस बात के लिए तैयार करने का बीड़ा उठाया कि वे लगान और कर अदा करने से इनकार कर दें। सत्याग्रही के रूप में उन्होंने दिल्ली में अनेक स्थानों पर भाषण दिए। सत्याग्रह आंदोलन के साथ उनका प्रथम सार्वजनिक सम्बंध जुड़ा 7 मार्च 1919 को, जब रोलेट ऐक्ट के विरुद्ध रोष प्रकट करने के लिए दिल्ली में कांग्रेस पंडाल में एक जन सभा हुई। जब आंदोलन ने जोर पकड़ लिया और गांधीजी गिरफ्तार हो गए, तब श्रद्धानंद ने आर्य समाज की शाखाओं के माध्यम से आंदोलन को और अधिक व्यापक बनाने में मदद की। उन्होंने 11 अप्रैल 1919 को यमुना तट पर एक सभा को सम्बोधित करते हुए लोगों से गांधीजी का अनुसरण करने के लिए तैयार रहने को कहा। पटौदी हाउस की सभा में उन्होंने जो जोशीला भाषण दिया, उससे चिन्तित होकर दिल्ली प्रशासन ने भारत रक्षा कानून के अंतर्गत उन्हें मध्य प्रांत के एक इलाके में रहने और वहां से कहीं न आने-जाने का आदेश दिया। स्वामीजी का निधन 23 दिसम्बर 1926 को हो गया। उनको श्रद्धांजलि देते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था: "उस वर्ष (1926)

का अंत एक महान दुखांत घटना के कारण अंधकारमय हो गया था... श्रद्धानंद बिस्तर में लेटे थे, उस समय एक हत्यारे ने उनकी हत्या कर दी। यह कैसी मौत थी उस पुरुष की जिसने संगीनों के सामने सीना खोल दिया था और जो गोलियों की बौछार में अडिग कदमों से आगे बढ़ता जाता था। लगभग आठ वर्ष पूर्व स्वामीजी ने, जो एक आर्यसमाजी नेता थे, दिल्ली की विशाल जामा मस्जिद के प्रवचन मंच पर खड़े होकर मुसलमानों और हिन्दुओं की एक विशाल सभा को सम्बोधित किया था और उन्हें आपसी एकता तथा भारत की स्वतंत्रता का संदेश दिया था।''

इन दो महापुरुषों के अलावा और भी ऐसे असंख्य स्त्री और पुरुष थे जिन्होंने महर्षि दयानन्द से प्रेरणा प्राप्त करके स्वदेश के लिए, धर्म के लिए और मानवता के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने में आगा-पीछा नहीं सोचा। ऐसे ही एक महान व्यक्ति थे पंडित लेखराम, जिन्होंने लाखों हृदयों में अपना स्थान बना लिया था। 'सत्धर्म प्रचारक' ने उनके बारे में लिखा : ''स्वामी दयानन्द ने अपने महाघोष से गहरी नींद में सोए हुए भारतीयों को जगाया, और वैदिक धर्म का ज्ञान प्रसारित करते हुए उनके मन में सत्य को जानने की इच्छा उत्पन्न की। विश्व में इस प्रकार जो हलचल उत्पन्न हुई थी, वह कुछ समय बाद शांत पड़ गई होती यदि स्वामीजी ने धर्मवेदी पर अपने प्राणों की आहुति न दे दी होती। स्वामी दयानन्द के बलिदान ने कुछ और बाधाएं उत्पन्न कर दीं जिनको पार करने के लिए यह आवश्यक हो गया कि कुछ छोटी-मोटी आत्माहुतियां और दी जाएं। इन बलिदानियों में एक थे पंडित लेखराम जिनकी शहादत आर्य धर्म की गरिमा का ज्वलंत प्रमाण है।''

लेखराम स्वामी दयानन्द के सच्चे अनुयायी थे। वह इस्लाम के आलोचक और वैदिक धर्म के समर्थक थे। मार्च 1897 में एक धर्मांध मुसलमान ने उनकी हत्या कर दी। उनकी मृत्यु से आर्य समाज ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय सैनिक भी अपना वीर नेता और साथी खो कर नेतृत्वविहीन हो गए।

महात्मा हंसराज विकास प्रक्रिया में विश्वास करते थे और तत्काल सामाजिक सुधार की मांग कर रहे थे। उन्होंने जाति प्रथा का विरोध किया

और मालाबार के दलित वर्गों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया। उन्होंने बाल विवाह का विरोध किया। वह लाहौर डी.ए.वी. कालेज के प्रिंसिपल थे और अपने यहां विवाहित छात्रों को दाखिला नहीं देते थे। विधवा विवाह के कट्टर समर्थक महात्मा हंसराज को नाभा राज्य में उच्च जातियों में विधवा विवाह की अनुमति देने वाला कानून पास कराने का आंशिक श्रेय प्राप्त है। उन्होंने 1919 में अमृतसर में होने वाली नेशनल सोशल कांफ्रेंस की अध्यक्षता की और 'हिन्दुओं में सामाजिक सुधार की आवश्यकता' विषय पर भाषण किया। अपने भाषण में उन्होंने श्रोताओं से अपील की कि वे गरीबी के विरुद्ध जेहाद छेड़ें और अछूतों के प्रति उदारता बरतें। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की वकालत करते हुए पश्चिमी विज्ञान और साहित्य का अध्ययन करने की सलाह दी। वह पहले शिक्षा शास्त्री थे जिन्होंने अपने कालेज में खेल-कूद को शामिल किया। उन्होंने 1896 में कालेज में एक 'यंगमेन्स समाज' की स्थापना की, जिसके सदस्य आर्य समाज के सिद्धांतों के अनुसार सक्रिय जीवन बिताने की प्रतिज्ञा करते थे तथा सेवा और आत्म-त्याग के कार्यों द्वारा विशिष्टता प्राप्त करते थे। उन्होंने जालंधर और होशियारपुर में स्कूल खोले और एक भारतीय आयुर्विज्ञान का कालेज भी खोला। उन्होंने 1918 में पंजाब एजुकेशनल कांफ्रेंस की अध्यक्षता करते हुए इस बात पर जोर दिया कि प्राथमिक शिक्षा को मुफ्त और सबके लिए अनिवार्य कर देना चाहिए।

भाई परमानंद एक निष्ठावान आर्यसमाजी थे। आर्य मिशनरी के रूप में उन्होंने अफ्रीका, एशिया, अमेरिका महाद्वीपों के अनेक देशों का भ्रमण किया और भारत भर में घूमे। वह एक सामाजिक कार्यकर्ता थे और 'समाज सुधार', 'स्वामी दयानन्द और उनका कार्य', 'आर्य समाज और उसके कार्यकर्ता' जैसे विषयों पर व्याख्यान देते थे। अपने व्याख्यानों में वह सामाजिक सुधार की आवश्यकता पर बल देते हुए स्वामी दयानन्द के संदेश का प्रसार करते थे।

राम भज दत्त वैदिक धर्म के प्रेमी थे। उन्होंने शुद्धि आंदोलन में भाग लिया, किन्तु वह हिन्दु-मुस्लिम एकता के समर्थक थे। 27 मार्च 1907 में

उन्होंने लायलपुर में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार करने के लिए आयोजित एक सभा में बोलते हुए कहा : ''क्या आप समझते हैं कि हम सब फाख्ता हैं? हम लोग सिंह हैं। एक उंगली को तोड़ना आसान है किन्तु उंगलियां जब मुट्ठी बन जाती हैं तो उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता। आप लोग मुट्ठी बन जाएं।''

इसी प्रकार पुरनी देवी, आज्ञावती देवी, पंडिता गिरिजा देवी, सरला देवी तथा अन्य महिला कार्यकर्त्रियों ने समाज और देश के लिए बहुत कार्य किया।

आर्य समाज आंदोलन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को बहुत प्रभावित किया। समाज सुधार तथा धार्मिक पुनर्जागरण सम्बंधी स्वामी दयानन्द के विचारों को कांग्रेस के नेताओं ने अपनाया। कांग्रेस के लिए सामाजिक और धार्मिक समस्याओं को अपने कार्यक्रम में शामिल करना जरूरी था क्योंकि सामाजिक प्रगति के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रश्न ही नहीं उठता था। कांग्रेस के जन्म से पूर्व सामाजिक धार्मिक आंदोलन और समाज सुधार का प्रश्न राष्ट्रीय प्रश्न बन चुका था। अतः कांग्रेस ने न केवल राजनीतिक सुधार बल्कि समाज सुधार पर भी जोर दिया। उसने अपने राजनीतिक स्वरूप का विस्तार करके सामाजिक संगठनों के आदर्शों को भी अपनाया। सामाजिक संस्थाओं के सक्रिय समर्थन के बिना कांग्रेस लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकती थी और न इतनी शीघ्र उसकी जड़ें आम आदमियों के बीच पहुंच पातीं। कांग्रेस इस प्रकार न केवल सामाजिक संस्थाओं की प्रवक्ता ही बन गई बल्कि उसने अपने सामाजिक स्वरूप और सामाजिक आधार को कायम रखा।

कांग्रेस के जन्म से पूर्व ही समाज और एकता की ज्यादा बड़ी समस्याएं उत्पन्न हो चुकी थीं। समाज सुधारकों ने सामाजिक विषमताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया और सामाजिक पुनर्गठन की मांग की। कांग्रेस ने अनुभव किया कि सामाजिक दासता के दलदल में स्वतंत्रता का भवन नहीं खड़ा किया जा सकता। इसी अहसास ने राजनीतिक स्वतंत्रता की एक स्पष्ट कल्पना स्थिर कर सकना सम्भव बनाया। राष्ट्रीय आंदोलन ने सामाजिक

तत्वों को अपना अभिन्न अंग बना लिया। यह अनिवार्य था कि जाति प्रथा की बुराई दूर करके स्वतंत्रता और लोकतंत्र के प्रगतिशील विचारों को प्रतिष्ठित किया जाए। इस दिशा में दयानन्द और आर्य समाज की भूमिका बड़ी सराहनीय थी। आर्य समाज इस अर्थ में ही राष्ट्रवादी नहीं था कि वह देश की राजनीतिक मुक्ति के लिए प्रयत्नशील था बल्कि इस अर्थ में भी राष्ट्रवादी था कि उसका संगठन और नेतृत्व इसी देश के रहने वालों ने किया था और पाश्चात्य प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहते हुए इसकी जड़ें भारत की प्राचीन संस्कृति में जमी हुई थीं।

जैसा कि हमने देखा, आर्य समाज ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानंद जैसे दो महान नेता दिए, जिन्होंने कांग्रेस के सदस्य और कार्यकर्ता के रूप में समाज सुधार, स्वदेशी और भारत की राजनीतिक मुक्ति के लिए प्रचार किया और कांग्रेस आंदोलन को सशक्त बनाने के लिए अपना सर्वोत्तम योगदान दिया। कांग्रेस-नेताओं के बीच काम करते हुए लाजपत राय ने हमेशा यह माना कि आर्य समाज का कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है और देश में राष्ट्र भावना जागृत करने का काम मुख्यतया कांग्रेस का है। किन्तु उनकी राय में आर्य समाज में किसी भी देशभक्त के लिए देश की सेवा करने के बहुत से काम थे। कांग्रेस अधिकारों की मांग करती थी, किन्तु आर्य समाज कर्तव्य का पाठ पढ़ाता था। कांग्रेस लोगों को बताती थी कि उनकी राजनीतिक आकांक्षाएं क्या होनी चाहिए, लेकिन आर्य समाज ने उन्हें यह अधिकार प्राप्त करने की सामर्थ्य प्रदान की थी। कांग्रेस ने लोगों को सरकार की कमियां बताईं लेकिन आर्य समाज ने लोगों को अपनी कमियों की ओर ध्यान देने के लिए विवश किया ताकि उन्हें दूर किया जा सके। कांग्रेस के अनुसार जनता का कल्याण पूरी तरह सरकार की उदारता और दया के ऊपर निर्भर करता था, लेकिन आर्य समाज ने लोगों के चरित्र-निर्माण पर जोर दिया, अर्थात उनके अंदर संकल्प शक्ति, लगन और नैतिकता की भावना पैदा की। कांग्रेस ने शासितों के प्रति शासकों के व्यवहार में परिवर्तन की मांग की, किन्तु आर्य समाज ने जनता की प्रगति की स्वाभाविक और सहज प्रक्रिया पर बल दिया। अंत में कांग्रेस ने कहा कि

उसका लक्ष्य स्वराज प्राप्त करना है जबकि आर्य समाज का तो जन्म ही एक स्थायी स्वराज का संदेश देने के लिए हुआ था। जो पहले ही पूर्णता प्राप्त कर चुका था और सारे देश में मौजूद था। निश्चय ही आर्य समाज एक ज्यादा बड़ा संगठन था जिसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आंदोलन को प्रभावित किया।

आर्य समाज के प्रति ब्रिटिश सरकार का रवैया

महर्षि दयानन्द के आर्य समाज को जितना गलत समझा गया और उसके बारे में जितनी गलत धारणाएं प्रचलित रहीं, उतना शायद कम ही संस्थाओं के बारे में हुआ होगा। 1907 में पहली बार इसकी आलोचना और भर्त्सना की गई। कट्टरपंथी साम्राज्यवादियों, ईसाई मिशनरियों और मुल्लाओं ने आर्य समाज पर तीव्र प्रहार किए। ईसाई और मुस्लिम धार्मिक नेताओं ने आर्य समाज पर अंग्रेज-विरोधी होने का आरोप लगाया। 'प्रकाश' के सम्पादक सोमदेव के अनुसार पहली आलोचना तो हिन्दुओं की तरफ से हुई जो आर्य समाज के प्रगतिशील विचारों के खिलाफ थे। इस बीच जब ईसाई और मुसलमान धार्मिक नेताओं ने देखा कि आर्य समाज का उद्देश्य उन सभी बुराइयों का विरोध करना है जो गैर हिन्दू धर्मों द्वारा फैलाई जा रही हैं और वह इन धर्मों को अपने अंदर आत्मसात करने में भी नहीं हिचकेगा, तब तो उन्होंने इसकी तीव्र आलोचना करने के साथ-साथ सरकार के कान इसके विरुद्ध भरने शुरू कर दिए। आर्य समाज मुसलमान बन गए हिन्दुओं का शुद्धीकरण करके उन्हें वापस आर्य धर्म में शामिल करने का जो अभियान चला रहा था, इस पर तो वे और भी कुपित हुए। उन्होंने इसका विरोध करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। ईसाइयों की ओर से भी आर्य समाज को प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। ईसाई पादरी बहुत बड़ी संख्या में हिन्दुओं को ईसाई बना रहे थे, लेकिन आर्य समाज की स्थापना के बाद बहुत कम हिन्दुओं को ईसाई बनने के लिए राजी किया जा सकता था, और जो हिन्दू ईसाई बन भी गए थे, उन्हें आर्य समाज ने फिर हिन्दू बनाना शुरू किया। ईसाई पादरियों ने जब देखा कि भाषणों और लेखों

द्वारा वे आर्य समाज का कुछ बिगाड़ नहीं पा रहे हैं, तब उन्होंने उसके खिलाफ जहर उगलना शुरू किया और अपने पीछे शासन का समर्थन और प्रभाव होने के कारण इसमें उन्हें काफी सफलता भी मिली।

भारत के अंग्रेज शासक आर्य समाज को पहले से ही संदेह की दृष्टि से देखते थे। वे आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द को एक उग्र राष्ट्रवादी मानते थे और आर्य समाज को एक उग्रवादी संस्था समझते थे। उन्होंने आर्य समाज द्वारा भारतीयों में आत्मविश्वास, आत्मसहायता और आत्मनिर्भरता उत्पन्न करने के लिए चलाए जा रहे प्रचार कार्य पर प्रतिबंध लगाने की कोशिश की। आर्य समाज को भारत में, विशेष रूप से पंजाब में जो अभूतपूर्व सफलता मिल रही थी यह देखकर सरकार के लिए आंखें बंद रखना असम्भव हो गया। उसने देखा कि भारत के, खासतौर से पंजाब के शिक्षित हिन्दुओं पर आर्य समाज का गहरा प्रभाव है और वह देश की अग्रगण्य और सबसे अधिक प्रभावकारी संस्था है। अतः सरकार ने आर्य समाज को कुचल देने का निश्चय किया। उसे लगने लगा था कि आर्य समाज के बढ़ते प्रभाव के कारण उसकी सत्ता कमजोर हो सकती है और उसका अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। अतः सरकार ने आर्य समाज के विकास और प्रगति के मार्ग में तरह-तरह की बाधाएं उत्पन्न करना शुरू किया और उसकी गतिविधियों पर कड़ी नजर रखी जाने लगी। आर्य समाज के समाज-सुधार कार्यक्रम के राष्ट्रवादी पक्ष ने भी उसे सरकार की निगाह में एक संदिग्ध संस्था बना दिया। आर्य समाज के संस्थापक का कहना था कि वेद सभी ज्ञान-विज्ञान के केन्द्रबिन्दु हैं और भारतीय राष्ट्रवाद का सुदृढ़ आधार बन सकते हैं। वैदिक या आर्य धर्म ने सभी भारतीयों को एकता के सूत्र में पिरोने और भारत भूमि से जाति प्रथा का उन्मूलन करने का प्रयत्न किया। आर्य समाज ने भारतीयों को राम, कृष्ण और अर्जुन के युग का स्मरण कराने का प्रयास किया जो कि भारत के प्राचीन आदर्श पुरुष थे। वेदों में भारतीयों को वैयक्तिक और सामाजिक आचरण के आदर्शों, सामाजिक नियम और राजनीतिक दर्शन की शिक्षा दी गई थी। एक नए प्रकार की शिक्षा प्रणाली का विकास करके, स्त्रियों और दलित वर्गों के सामाजिक दर्जे को ऊंचा उठाकर आर्य समाज ने एक नई जीवन-दृष्टि उत्पन्न की थी और

प्राकृतिक विपत्ति और दुख के समय अपने आपको जनता का सच्चा और सबसे बड़ा सहायक सिद्ध किया था। स्वराज और स्वदेशी सम्बंधी दयानन्द के विचार अंग्रेज शासकों के लिए सचमुच बहुत बड़े खतरे थे और इन सबका उद्देश्य भारत में अंग्रेजी राज्य के फूलने-फलने को रोकना था। यह ध्यान में रखने की बात है कि दयानन्द अथवा आर्य समाज ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध प्रत्यक्षतः कभी कोई बात नहीं कहीं। भारतीय राजनीतिक नेताओं द्वारा जो वैधानिक आंदोलन चलाया जा रहा था, उसका भी उन्होंने न समर्थन ही किया था और न विरोध ही किया था। दयानन्द शांतिपूर्ण क्रांति, सर्वतोमुखी प्रगति और विकास की कामना करते थे। वह देश की जीवन पद्धति में एक नया जीवन संचार, एक नया जागरण उत्पन्न करना चाहते थे, जिसे अंग्रेज सरकार कभी पसंद नहीं कर सकती थी। भारतीयों के जीवन और चरित्र का उत्थान चाहकर दयानन्द ने कोई अपराध नहीं किया था। प्रत्येक देशभक्त को अपनी मातृभूमि से प्रेम होता है और दयानन्द को अपने आर्यावर्त से प्रेम था। आर्य समाज ने जो सामाजिक-अर्थिक आंदोलन छेड़ा, वह राजद्रोह कदापि नहीं था, जैसा कि अंग्रेजों ने कहा। आर्य समाज ने एक राजनीतिक संस्था के रूप में कभी कार्य नहीं किया, तथापि उसे शंका की निगाह से देखा गया और राजनीतिक संस्था माना गया। ब्रिटिश सरकार आर्यसमाजियों को खतरनाक राजद्रोही समझती थी, सुधारक और देशभक्त नहीं। आर्य समाज की कोई बैठक या सभा होती तो उसके विरोधी अथवा सरकारी अधिकारी झूठी रिपोर्टें या साजिश करके उसे राजद्रोह से सम्बंधित गतिविधि बताते थे। चूंकि लाला लाजपत राय आर्य समाज के प्रमुख नेताओं में से थे और राजनीतिक गतिविधियों के कारण उन्हें निष्कासित किया जा चुका था, अतः पूरे आर्य समाज को संदेह की निगाह से देखने का उसे पर्याप्त कारण माना जाता था। आर्य समाज की सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों को सरकार नापसंद करती थी क्योंकि वह राष्ट्रोत्थान के कार्य में लगी हुई संस्था थी। शासक लोग ऐसे किसी भी राष्ट्रीय आंदोलन को पसंद नहीं कर सकते थे जो बिना किसी बाहरी मदद के बड़े व्यापक स्तर पर सफल हो सकता था और सरकार के अंदर सरकार स्थापित कर सकता था। लालाजी ने लिखा है: ''आर्य समाज ने जो तरक्की की थी, जो शानदार

प्रभाव उसने लोगों के दिलोदिमाग पर डाला था, हिन्दुओं के मत-मतांतरों और मूर्तिपूजा की प्रथा के बावजूद आर्य समाज को हिन्दुओं में जो लोकप्रियता मिली, उसके सभी कार्यकलापों का जो प्रभाव पड़ता था, जो राष्ट्रीय चेतना उसने भारतवासियों के अंदर जागृत और विकसित की, उसके सदस्यों ने आत्मबलिदान की जैसी तत्परता प्रदर्शित की, सारे भारत में आर्य समाज आंदोलन ने जिस तेजी से अपना प्रसार किया और आलोचना कर सकने की जो प्रवृत्ति उसने उत्पन्न की, उन सभी विशेषताओं के कारण शासन की नौकरशाही उसे संदेह की दृष्टि से देखने लगी।"

1907-1910 के मध्य आर्य समाज एक गम्भीर संकट के दौर से गुजरा। पिछले कुछ समय से सरकारी अधिकारी इसके कार्यकर्ताओं को परेशान कर रहे थे। कुछ सरकारी नौकरों को केवल इस कारण बरखास्त कर दिया गया था कि वे आर्य समाज के सदस्य थे। फौज की एक रेजिमेंट के क्लर्क को बरखास्त करते समय यह स्वीकार किया गया कि उसके सभी प्रमाणपत्र अच्छे थे लेकिन बाद में यह तथ्य प्रकाश में आया कि वह आर्य समाज का सदस्य था और इस संस्था के किसी सदस्य का सिख रेजिमेंट में होना अवांछनीय था। कुछ मामलों में सरकारी नौकरों से कहा गया कि वे आर्य समाज की सदस्यता छोड़ दें। कुछ ने यह आदेश मान लिया, लेकिन जिन्होंने इसे मानने से इनकार किया, उन्हें बरखास्त कर दिया गया। एक ब्रिगेड के कमांडिंग अफसर ने अपनी ब्रिगेड के अफसरों और जवानों के लिए हुक्म जारी करके आर्य समाज या किसी भी अन्य राजनीतिक दल की सभाओं में भाग लेना निषिद्ध करार दे दिया। एक अन्य स्थान पर डुग्गी पिटवा कर मुनादी करा दी गई कि आर्य समाज धर्म की सभी पुस्तकें बादशाह ने निषिद्ध करार देते हुए जब्त कर ली हैं। (तथापि जिस जिले की यह घटना है, वहां के कलेक्टर ने इस बात से इनकार किया कि उसने ऐसी मुनादी करने की इजाजत दी थी)।

कुछ जिलों में आर्य समाज के सदस्यों की सूची बनाकर उन्हें पुलिस रजिस्टरों में संदिग्ध व्यक्तियों के खाने में रखा गया। इसी प्रकार प्रशासनिक विभाग ने अपने सभी उन कर्मचारियों की सूची बनवाई जो आर्यसमाजी थे ताकि उन पर समाज से सम्बंध तोड़ने के लिए दबाव डाला जा सके। कुछ

सरकारी कर्मचारियों को नौकरी से निकाल देने की धमकी देकर मजबूर किया गया कि वे अपने बच्चों को आर्य समाज के स्कूलों से निकाल लें। पुलिस आर्यसमाजियों पर निगरानी रखती थी और उसके प्रमुख नेताओं की गतिविधियों पर बराबर निगाह रखी जाती थी। आर्यसमाजियों के असली इरादों और उनकी भावनाओं का सुराग लगाने के लिए गुप्त सूचना एकत्र करने का इंतजाम किया गया। एक प्रांत की सरकार ने तो समाज की गतिविधियों की निगरानी के लिए दो मौकों पर जासूसी की विशिष्ट योग्यता वाले विशेष अधिकारी तक नियुक्त किए थे।

इंटेलिजेंस डिपार्टमेंट के डाइरेक्टर, सी.जे. स्टीवेंसन की रिपोर्ट के अनुसार यह सिद्ध करने के लिए कि आर्य समाज ही भारत में ब्रिटिश राज के खिलाफ राजद्रोह और विद्रोह की स्थिति उत्पन्न करने के लिए पूरी तरह जिम्मेदार है, कुछ आधार ढूंढ़े गए। सच तो यह है कि सरकार आर्य समाज आंदोलन को दबाने के लिए झूठे कारण ईजाद कर रही थी। आर्य समाज के विरुद्ध उक्त आरोप के लिए जो आधार ढूंढ़े गए वे इस प्रकार थे:

1. 1907 में रावलपिंडी में जो दंगे हुए थे, उसके सरगना आर्यसमाजी थे। पंजाब में असंतोष की जांच के लिए नियुक्त किए गए मिस्टर डेंजिल इबट्सन ने जांच पूरी करने के बाद अपनी रिपोर्ट में कहा कि आर्य समाज राजद्रोह की चर्चा का केन्द्र है। हालांकि लाला हंसराज ने उन्हें विश्वास दिलाने की कोशिश की कि संस्था के रूप में आर्य समाज का उपद्रवों में कोई हाथ नहीं था, लेकिन मिस्टर इबट्सन ने उनकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और प्रांत के डिप्टी कमिश्नर से प्राप्त सूचना के आधार पर सरकार को रिपोर्ट दी कि समाज राजद्रोह की चर्चाओं का केन्द्र है और लाहौर के डी.ए.वी. कालेज के छात्रों ने दंगों में हिस्सा लिया था।

2. दयानन्द भारत के 'पुनरुत्थान' के लिए कटिबद्ध थे और 'देशभक्ति' तथा 'राष्ट्रवाद' जैसे शब्द उनकी ज़बान पर बराबर रहते थे। एक बार उन्होंने एक पादरी से कहा था: ''मैं स्पष्ट देखता हूं कि प्राचीन आर्यों के समान ही आपके पतन के दिन निकट आ रहे हैं।'' दयानन्द का यह कथन राष्ट्रवादी विचारधारा का द्योतक है।

3. 1879 में लाहौर के आर्य समाज ने धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार किया और इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि सामान्य और टैक्निकल शिक्षा की तत्काल आवश्यकता है और इससे भी ऊपर राष्ट्रीय एकता और स्वावलम्बन की आवश्यकता है। तीन वर्ष बाद 1882 में एक कार्यक्रम में 'राष्ट्रवाद' के विषय पर लाहौर आर्य समाज के मंत्री का एक व्याख्यान भी शामिल किया गया, और 1899 में आर्य समाज की डी.ए.वी. संस्था ने आर्य समाज के "उदारवादी और राष्ट्रवादी स्वरूप" पर जोर दिया।

4. सर डेनिस फिट्जपैट्रिक ने इंटेलिजेंस डिपार्टमेंट के डाइरेक्टर को सूचित किया कि कालिज पार्टी के सदस्य गुरुकुल पार्टी की अपेक्षा राजनीतिक गतिविधियों में ज्यादा हिस्सा लेते हैं।

5. 1897 में पंजाब के तत्कालीन ले. गवर्नर सर मैकवर्थ यंग ने लार्ड एल्गिन को प्रांत में बढ़ते हुए असंतोष के बारे में एक पत्र में लिखा था: "समाचारपत्रों के अलावा कुछ और एजेंसियां भी काम कर रही हैं जो सरकार के विरुद्ध संयुक्त मोर्चे का रूप धारण कर सकती हैं। कांग्रेस से लेकर नीचे तक उन तमाम संगठनों में, जिनका प्रकट लक्ष्य राजनीतिक और धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार है, कई ऐसे हैं जिनमें ऐसे लोगों का प्राधान्य है जो ब्रिटिश सरकार के विरोधी हैं, और इन संगठनों के कार्यकलापों का मूर्तिमान रूप पंजाब में आर्य समाज है। इधर कुछ वर्षों के दौरान हिन्दू और मुसलमानों के बीच जो वैमनस्य की भावना उत्पन्न हुई है इसके लिए आर्य समाज बहुत हद तक जिम्मेदार है, और हालांकि इसके सदस्यों में बहुत से सरकारी कर्मचारी हैं, तथापि इसकी सामान्य प्रवृत्ति सरकार विरोधी है।"

6. 1890 के आसपास जाकर आर्य समाज के प्रमुख नेताओं के भाषणों में खुल कर सरकार विरोधी बातें कही जाने लगीं, और इस वर्ष के दौरान रामभज दत्त और मुंशीराम ने गुरुकुल के लिए धन संग्रह करने के उद्देश्य से गुजरात, सियालकोट और गुजरांवाला में प्रवचन करते हुए सरकार के विरुद्ध जोरदार ढंग से आलोचना की और कहा कि सिपाही लोग मूर्ख हैं कि वे 7 रुपये या 8 रुपये प्रतिमाह वेतन की खातिर जान देने के लिए फौज में भर्ती होते हैं; लेकिन गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे ठीक से समझ

जाएंगे। 1903 में झंग में इसी प्रकार के प्रवचन देते हुए मुंशीराम ने ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया था।

7. मई 1906 में राष्ट्रीय कांग्रेस का जो प्रतिनिधि मंडल इंग्लैंड गया था उसमें लाला लाजपत राय पंजाब के प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए थे। इंग्लैंड के लिए रवाना होने से पहले उन्होंने एक भाषण दिया जो अत्यंत आपत्तिजनक था। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की खुली आलोचना की और कहा कि रोग, महामारी और दुर्भिक्ष रोकने के लिए वह कुछ नहीं कर रही है; उसकी शिक्षा नीति और प्रशासनिक नीति दोषपूर्ण है। बोस्टन में दिए गए उनके भाषण भी आपत्तिजनक थे जिनमें उन्होंने (भारत में) दुर्भिक्ष और बीमारियों के लिए फिर ब्रिटिश सरकार को दोषी ठहराया और जोरदार शब्दों में कहा कि सरकार की आर्थिक नीति भारतीय निर्माताओं, उद्यमियों को बर्बाद कर रही है। मांडले से लौटने के बाद भी उनका रवैया वैसा ही बना रहा। उन्होंने 1 दिसम्बर 1907 को लाहौर में एक भाषण दिया जिसमें कहा कि हालांकि वह आर्य समाज के लिए पच्चीस वर्षों से काम करते रहे हैं और हमेशा उसकी सहायता और उसके लिए कार्य करेंगे, लेकिन उसके प्रबंध कार्य में हिस्सा लेने का उनका कोई इरादा नहीं है। हालांकि वह उस संगठन (आर्य समाज) के सिद्धांतों में विश्वास रखते हैं, उनके ऊपर उसका बहुत ऋण है, और वे उसे छोड़ नहीं सकते लेकिन यदि आर्य समाज का कोई नेता उनसे यह कह दे कि उनके राजनीतिक विचारों के कारण समाज को हानि पहुंची है तो वह समाज से तत्काल अपना सम्बंध विच्छेद कर लेंगे। उन्होंने कहा कि आर्य समाज को बहुत काम करने हैं और यदि वह अपनी मौजूदा सीमाओं को लांघने की कोशिश करेगी तो वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकेगी। उनके इस कथन का आसानी से वही अर्थ लिया जा सकता है जोकि सी.आई.डी. वालों ने लिया था, अर्थात उन्होंने आर्य समाज के नेताओं को यह चेतावनी दी थी कि उन्हें शैक्षणिक, सामाजिक और धार्मिक कार्य ही करना चाहिए और समाज को राजनीति के पचड़े में नहीं डालना चाहिए। सी.आई.डी. वाले यही मानते रहे कि आर्य समाज के नेता कांग्रेस के आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

इन बातों के अलावा, खुफिया विभाग ने सरकार को उन सभाओं के विवरण भी दिए जिनको किसी आर्यसमाजी ने आयोजित किया था या जिसमें उसने भाषण दिया था। लाला लाजपत राय को निर्वासित करने से पहले, खुफिया विभाग के अनुसार, राजद्रोहात्मक सभाएं की गई थीं, जिनमें आर्यसमाजी नेताओं ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भाषण किए और आर्य समाज ने ऐसी ही अन्य सभाओं में भाषण करने के लिए वेतन भोगी प्रचारकों का इस्तेमाल किया था।

अप्रैल 1908 में लायलपुर में आर्य समाज का तीसरा वार्षिक सम्मेलन हुआ जिसमें विदेश से आयातित चीनी के उपयोग की भर्त्सना की गई थी और हिन्दू मुसलमानों को अंग्रेजों के खिलाफ एक होने की सलाह दी गई थी। 10 जून 1906 को भगत ईश्वरदास के घर पर लाहौर आर्य समाज के नेताओं की एक बैठक में यह कहा गया कि सरकार सिखों को हिन्दुओं से अलग करने का षड्यंत्र रच रही है। इस बात की आलोचना करते हुए सिख-प्रधान स्थानों पर सिख प्रचारक भेजने का निश्चय किया गया ताकि वे सिखों को सरकार की फूट डालने वाली नीति से आगाह करते हुए उन्हें हिन्दुओं के साथ मिलकर रहने के लाभ बता सकें। 9 दिसम्बर 1906 को रामचंद ने होशियारपुर की एक सभा में बोलते हुए इस बात पर शोक प्रकट किया कि हिन्दुओं को जो कि भारत के वास्तविक शासक थे, भारत के प्रशासन में कोई अधिकार नहीं था। 27 मार्च 1907 को एक अन्य सभा में रामचंद ने कहा कि अंग्रेजों के अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए हिन्दू-मुसलमानों को एक हो जाना चाहिए। 26 अप्रैल 1907 को झेलम शहर में एक सभा में हुकुम सिंह और बोधराज ने अंग्रेजी हुकूमत को अत्याचारी बताते हुए उसकी निंदा की। उन्होंने एक पार्टी बनाने की पेशकश की जो अन्य जिलों में सरकार के खिलाफ चल रहे आंदोलन के साथ मिलकर काम करे। गुजरात जिला आर्य समाज के 26-28 अप्रैल 1907 को हुए वार्षिक सम्मेलन में वक्ताओं ने हिन्दुओं और मुसलमानों से एकता स्थापित करने का आग्रह किया और कहा कि एकता से सभी चीजें प्राप्त की जा सकती हैं। 3 मई 1907 को गुरदासपुर में गुरदित सिंह की अध्यक्षता में आयोजित एक सभा में नगर में अंजुमन-ए-मोहब्बान-ए-वतन (देशभक्तों का संगठन) की शाखा

स्थापित करने का फैसला किया गया। अजित सिंह ने सरकार की शिक्षा नीति की आलोचना की। 5 मई 1907 को होशियारपुर के दसूया नामक स्थान पर आर्यसमाजियों की एक सभा में देशभक्ति पर भाषण हुए।

इनके अलावा, 'लंदन टाइम्स' के विशेष संवाददाता, सर वैलेंटाइन किरोल ने 1907-10 में अपनी भारत यात्रा के दौरान 'भारत में असंतोष' विषय पर कई लेख लिखे जिन्हें बाद में 'इंडियन अनरेस्ट' नाम से पुस्तक रूप में छापा गया। इन लेखों को भारत के सरकारी हलकों में व्यापक रूप से पढ़ा गया। इनमें सर वैलेंटाइन ने आर्य समाज को एक ब्रिटेन विरोधी राजनीतिक संगठन बताया था। उसने यह मत व्यक्त किया था कि हिन्दू लोग अन्य जातियों के मुकाबले ज्यादा खतरनाक थे और अंग्रेज विरोधी असंतोष केवल उन्हीं तक सीमित था। इसीलिए उसने भारत में फैले असंतोष को 'हिन्दू असंतोष' बताया और कहा कि इसकी जड़ में पश्चिम के उन सभी सिद्धांतों का विरोध काम कर रहा था जिन पर पश्चिमी देशों की, विशेष रूप से इंग्लैंड जैसे लोकतांत्रिक देश की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था आधारित थी। उसने 1907 में रावलपिंडी में हुए साम्प्रदायिक दंगों के लिए आर्य समाज को दोषी ठहराया और कहा कि दंगे होने के दो साल पहले से आर्यसमाजी नेता द्वेष फैलाने वाला प्रचार कर रहे थे। उसने कहा कि भाई परमानंद के पास से बम बनाने का फार्मूला बरामद हुआ था। उसने यह भी कहा कि जिस समय परमानंद इंग्लैंड में थे उस समय लाजपत राय ने उन्हें पत्र लिखे थे। इस तरह इन सब बातों के असर से ब्रिटिश सरकार की धारणा बन गई कि आर्य समाज सरकार विरोधी संगठन है और वह सरकार का तख्ता पलटने के लिए राजनीतिक षड्यंत्र कर रहा था। कहने की जरूरत नहीं कि खुफिया पुलिस और सर वैलेंटाइन की बातें सच नहीं थीं और न ही वे तथ्यों पर आधारित थीं।

आर्य समाज पर सरकार के प्रति निष्ठावान न होने का जो आरोप लगाया जाता था उसका खंडन करने के लिए स्वामी श्रद्धानंद ने लाहौर आर्य समाज की इकत्तीसवीं वार्षिक जयंती के अवसर पर 'आर्य समाज और राजनीति' विषय पर एक भाषण किया। उन्होंने कहा कि आर्य समाज अपना काम खुले

रूप से करता है और उसका कोई गुप्त संगठन नहीं है और न ही उसे कुछ छिपाने की जरूरत है। उन्होंने कहा कि हिन्दुओं, पारसियों, बौद्धों, मुसलमानों और ईसाइयों ने अपने-अपने राजनीतिक आंदोलनों में भाग लिया है लेकिन उन पर सरकार ने राजद्रोह का आरोप कभी नहीं लगाया। लाला लाजपत राय के बचाव में बोलते हुए उन्होंने कहा कि लालाजी ने भारत मंत्री से लेकर नीचे तक के सभी सरकारी अधिकारियों को उनके विरुद्ध राजद्रोह का अपराध या कोई भी अपराध सिद्ध करने की चुनौती दी थी, लेकिन यह चुनौती किसी ने स्वीकार नहीं की थी। आर्य समाज के प्रचारकों के बचाव में स्वामी श्रद्धानंद ने 1909 में एक पुस्तिका छापी जिसकी भूमिका में उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों का ध्यान 1907 से पहले भारत में होने वाले आंदोलन की ओर दिलाया। उन्होंने कहा कि 1907 से पहले भारत में हो-हल्ला मचाने वाला राष्ट्रवाद पैदा हुआ था। उस समय जोशीले भाषण करने वाले अज्ञानी वक्ता सरदार अजीत सिंह देश निकाला मिलने के बाद जाने कहां लापता हो गए। इन लोगों को भारत के करोड़ों लोगों से कोई सच्ची सहानुभूति नहीं थी। अहंकार और महत्वाकांक्षा के वशीभूत होकर ही उन्होंने पूर्ण स्वराज का नारा दिया था और जब अहं और महत्वाकांक्षा की प्राप्ति असम्भव प्रतीत हुई और सरकारी दमन का सामना करना पड़ा तो उन्होंने फौरन पेंतरा बदल लिया और झूठ बोलने वाले सरकारी मुखबिर बन गए। इन लोगों को अपने बचाव के लिए एक बलि का बकरा चाहिए था, इसलिए उन्होंने आर्य समाज पर हमला बोल दिया। हिन्दू, मुसलमान, तत्खालसा, यहां तक कि ईसाई धर्मांधता ने काल्पनिक अपराधों का बदला लेने के लिए आर्य समाज के विरुद्ध विष-वमन करना शुरू कर दिया।

आर्य समाज के बारे में सर वैलेंटाइन किरोल की राय भी तथ्यों पर आधारित नहीं थी। रावलपिंडी के दंगों के सिलसिले में सभी तथाकथित आर्य समाज के 'सरगनों' का मुकदमा सुनने वाले अंग्रेज जज ने उन्हें अपराधमुक्त घोषित करते हुए अपने फैसले में कहा कि पुलिस द्वारा बनाया गया मुकदमा झूठा और गढ़ा हुआ था। सरकार ने इस फैसले के विरुद्ध अपील नहीं की। ये तथ्य सर वैलेंटाइन को ज्ञात ही रहे होंगे जब उन्होंने

अपने लेख लिखे थे। जहां तक लाला लाजपत राय की बात है, उन पर बिना मुकदमा चलाए हुए उन्हें देश-निकाले की सजा दी गई थी और उनके बार-बार मांग करने पर भी इसका कोई कारण नहीं बताया गया और न ही उनका कोई अपराध ही सिद्ध किया जा सका। रहे भाई परमानंद, तो उन्होंने अदालत में बराबर इस बात से इनकार किया कि उनके पास बम बनाने का कोई नुस्खा था, पर उनकी बात का विश्वास ही नहीं किया गया।

लेकिन ब्रिटिश सरकार इन सबके बावजूद आर्य समाज के प्रति अपना रवैया बदलने को तैयार नहीं थी। उन्होंने समाज के सिद्धांतों में उस राष्ट्रवाद के बीज छिपे हुए देख लिए थे जिनके चलते भारत में उनके शासन की नींव खोखली हो सकती थी। उसने आर्य समाज के नेताओं और सामान्य कार्यकर्ताओं को देश निकाला दिया, उनके खिलाफ मुकदमे चलाए और उन्हें सरकारी नौकरी से बर्खास्त किया। होम पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स रिकार्ड इन कार्रवाइयों के विवरणों से भरे पड़े हैं। यहां हम उनमें से कुछ का उल्लेख करेंगे।

1889 में लाहौर सेंट्रल ट्रेनिंग कालेज के छह आर्यसमाजी छात्रों को सर जेम्स लायल के आदेश से कालेज से निकाल दिया गया। उन पर आरोप था कि उन्होंने एक अश्लील पर्चा छापा था। 'आर्य पत्रिका' ने इस कार्रवाई की निंदा करते हुए सर जेम्स से अपने फैसले पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया।

इसी वर्ष, इसी कालेज के तीन अन्य छात्रों को इस आरोप में निकाल दिया गया कि उन्होंने यजुर्वेद के स्वामी दयानन्द द्वारा किए गए भाष्य को महीधर के भाष्य से श्रेष्ठ बताने वाला एक पर्चा छापा था। कट्टरपंथी हिन्दुओं ने बड़ा हो-हल्ला मचाया और पंजाब सरकार पर जोर डाला कि वह इस पर्चे को जब्त करे क्योंकि वह अश्लील है। सरकार ने उनकी यह मांग स्वीकार करते हुए पर्चे को जब्त ही नहीं किया, बल्कि छात्रों को कालेज से निकाल कर दंडित भी किया।

35वीं सिख रेजिमेंट में गुलाबचंद नामक एक क्लर्क था। वह बड़ा उत्साही कर्मचारी था और उसके वरिष्ठ अधिकारी उसके काम से प्रसन्न

थे। रेजिमेंट का कमांडेंट उसके साथ आर्य समाज के बारे में अक्सर चर्चा करता था और कहा करता था कि गुलाबचंद। अपने सरकारी दायित्वों को बड़ी मुस्तैदी से और संतोषजनक ढंग से निपटाता है, इसके साथ ही वह बहस-चर्चा में भी बहुत निर्भीक है। गुलाबचंद की पदोन्नति होने पर उसका तबादला एक दूसरी रेजिमेंट में कर दिया गया तब उसने छुट्टी के लिए अर्जी दी। अर्जी अस्वीकार होने पर वह कमांडिग अफसर को छुट्टी सम्बंधी नियम दिखाने गया जिस पर धृष्टता करने के आरोप में उसे तीन दिन के लिए हवालात की सजा दे दी गई। रिहाई के बाद उससे पूछा गया कि क्या वह आर्यसमाजी है? हामी भरने पर उसे अगले दिन आने को कहा गया, और तब उसे बताया गया कि उसे बर्खास्त कर दिया गया है। स्तब्ध हो गए बेचारे गुलाब चंद ने अपना अपराध जानना चाहा तो कहा गया कि ऊपर से आदेश आए हैं। लेकिन उसका कमांडेंट दयालु व्यक्ति था और गुलाबचंद को नुकसान नहीं पहुंचाना चाहता था, इसलिए उसने उसे निम्नलिखित डिस्चार्ज सर्टिफिकेट दिया: ''गुलाबचंद परिश्रमी व्यक्ति है। उसे सिर्फ तीन दिन की हवालात हुई थी। वह आर्यसमाजी है।'' पानीपत के तीन जेलदारों ने महात्मा मुंशीराम को अपने रोजनामचे दिखाए जिनमें यह टिप्पणी थी. ''बहुत अच्छा जेलदार है। आर्यसमाजी है, अतः उस पर निगाह रखी जानी चाहिए।'' तीनों के बारे में यही लिखा था। दौरे पर आया हर अफसर उनसे कहता था: ''ओह, तुम आर्य हो!''

एक बार करनाल का डिप्टी कमिश्नर पानीपत गया। वह जानता था कि वहां आर्य समाज की शाखा है। उसने कुछ लोगों से कहा: ''मैंने सुना है कि यहां बदमाश आर्य लोग भी हैं। अगर भला चाहते हो तो उन्हें शहर से निकाल बाहर करो। सरकार तुम्हारी तारीफ करेगी।'' जिनसे यह बात कही गई थी उनमें दो आर्यसमाजी भी थे। उन्होंने भोलेपन से पूछा: ''साहब हम उन्हें किस तरह भगाएं? आप हमारी मदद करें तभी हम ऐसा कर सकते हैं।'' साहब ने कहा: ''मैं ऐसा करने का हुक्म तो जारी नहीं कर सकता। तुम उन लोगों को निकाल दो, और अगर कोई मामला खड़ा होगा तो मैं तुम्हारे खिलाफ नहीं जाऊंगा।''

संयुक्त प्रांत में एक जाट सभा थी जिसके अधिकांश सदस्य आर्य-समाजी थे और जनेऊ पहनते थे। सभा को एक रेजिमेंट के सिपाहियों की ओर से शिकायत मिली कि उनसे जनेऊ उतार देने को कहा गया है और ऐसा न करने पर उन्हें बर्खास्त करने की धमकी दी गई है। जनेऊ धारण करने वाला जाट विद्रोही है और रहतिया फौज में तभी रह सकता है जब कि वह लम्बे केश रखे। सभा के मंत्री ने उस रेजिमेंट के कमांडिग अफसर को पत्र लिखते हुए यह बात कही: "औरंगजेब के जमाने में जनेऊ उतरवाए गए थे। हमारे आदमियों से आज जनेऊ उतारने को कहा जा रहा है। क्या मौजूदा ब्रिटिश हुकूमत औरंगजेबी हुकूमत है? आपको कृपया हमारी शिकायत सुननी चाहिए। हमारे आदमियों के धर्म में कृपा करके दखल न दें।"

लाला लाजपत राय को देश-निकाला दिया गया। भाई परमानंद तथा अन्य लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया।

एक रेजिमेंट के किसी लेफ्टिनेंट की एक जमादार से कहा-सुनी हो गई और उसे गिरफ्तार कर लिया गया। लेफ्टिनेंट ने अपने कमांडिंग अफसर को लिखा: "अफसर की पट्टी की गरिमा का अपमान किया गया है और सरकार की प्रतिष्ठा को खतरा पैदा हो गया है।" बात सिर्फ इतनी थी कि वह जमादार से किसी बहस में पराजित हो गया था। कर्नल ने, जो अपने लेफ्टिनेंट जैसा ही मूढ़ था, जमादार को बुलवाया और कहा: "क्यों बदमाश।आर्यसमाजी! तूने साहब से गुस्ताखी क्यों की?" बेचारे जमादार ने कहा: "मैं तो मुसलमान हूं, सर।" कर्नल साहब ने इस पर कहा: "अच्छा, तब तो तुम मुसलमान आर्य-समाजी हो।"

लाहौर में इंस्पेक्टर जनरल पुलिस के कार्यालय के हेड एकाउंटेंट लक्ष्मणराव शर्मा को सिर्फ इसलिए नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया कि उन्होंने इंदौर आर्य समाज, जिसके कि वह अध्यक्ष थे, से अलग होने और 1904 में वहां आयोजित आर्य समाज की वार्षिक जयंती में भाग न लेने का आदेश नहीं माना था।

लाहौर जिले के शरकपुर नामक स्थान पर एक स्कूल मास्टर थे जो

शायद नगरपालिका के सदस्य भी थे और हिन्दू मुसलमान सभी उन्हें चाहते थे। लाला लाजपत राय के देश-निकाले के बाद एक गैर आर्यसमाजी ने मुसलमानों से पूछा कि उनके देश-निकाले से पहले आर्य समाज का जो वार्षिकोत्सव मानाया गया था क्या उसके सिलसिले में उनको कोई शिकायत थी? उन्होंने कहा कि हां, उनकी धार्मिक भावनाओं को बहुत ठेस पहुंची थी। फलस्वरूप बेचारे स्कूल मास्टर को नौकरी से निकाल दिया गया। किसी ने उन्हें नहीं बताया कि उनका कसूर क्या था।

लालाजी के देश-निकाले के बाद आर्य समाज की कई शाखाओं के मंत्री गुरुकुल में स्वामी श्रद्धानंद से मिले और उन्हें बताया कि पुलिस उन्हें अपने सदस्यों के नामों की सूची देने के लिए तंग कर रही है जैसे कि वे किसी जरायमपेशा जाति के सदस्य हों। इसी प्रकार जालंधर आर्य समाज के मंत्री से भी सूची देने को कहा गया। उसके तीन सदस्य सरकारी नौकर थे। जब उन सदस्यों को इसका पता चला तो उन्होंने मंत्री के पास जाकर समाज से त्यागपत्र देते हुए अनुरोध किया कि वह सदस्यों की सूची अगले दिन ही दें।

नवम्बर 1908 में वाइसराय जोधपुर गए। उनके जुलूस के रास्ते में आर्य समाज का भवन पड़ता था, जिस पर उसका बोर्ड लगा था। पुलिस ने इसे हटा दिया। यह भी धार्मिक उत्पीड़न का एक उदाहरण था। लेकिन जिस मामले की तरफ लोगों का सबसे ज्यादा ध्यान गया, वह था दौलत राम का मामला जिनके विरुद्ध सितम्बर 1908 में फौजदारी कानून की धारा 109 के अंतर्गत झांसी में मुकदमा चलाया गया। मजिस्ट्रेट के आदेश के निम्न उद्धरण से परिस्थितियों पर कुछ प्रकाश पड़ता है:

''यह सिद्ध हो गया है कि दौलत राम यद्यपि झांसी आर्य समाज के सदस्य नहीं हैं लेकिन उन्होंने 16 अगस्त 1908 को आर्य समाज द्वारा आयोजित एक भरी सभा में भाषण दिया था। सभा में एक देसी रेजिमेंट के जवान बड़ी संख्या में उपस्थित थे। दौलत राम ने उन्हें 'सत्यार्थ प्रकाश' के अध्याय का पहला हिस्सा पढ़कर सुनाया, (जिसमें कहा गया है कि यह कितने दुख की बात है कि आर्यों की संतानें विदेशियों के पैरों तले कुचली जा रही हैं) जिसे सम्राट की सेवा में कार्यरत देसी सैनिकों के सामने भाषण के अंश के रूप में

इस्तेमाल किया जाना अत्यंत आपत्तिजनक बात समझी गई। उतनी ही आपत्तिजनक वे टिप्पणियां हैं जो उन्होंने हिन्दुओं के धर्म के विरुद्ध की थीं।"

दौलत राम अपनी आजीविका के लिए बाजार के कुछ बच्चों को पढ़ाते थे लेकिन उनसे कोई फीस नहीं लेते थे। उन्होंने कहा कि कुछ लोग चंदा देकर उनकी सहायता करते थे, लेकिन उन्होंने कुछ लोगों को इस बात के लिए राजी कर लिया था कि वे अपने घर में मिट्टी का घड़ा रखें जिसमें वे रोज थोड़ा आटा डालते रहें। हर इतवार को दौलत राम इन घड़ों से आटा इकट्ठा कर लाते थे। लेकिन इसके बारे में मजिस्ट्रेट ने अपने फैसले में लिखा:

"मैं नहीं समझता कि ऐसा मानना तर्कसंगत होगा कि दौलत राम स्कूल खोलने के इरादे से झांसी आए थे और वह बच्चों के शिक्षक के रूप में दान के बल पर अपनी आजीविका चलाने की उम्मीद करते थे। यह सिद्ध हो गया है कि झांसी में अपने संक्षिप्त प्रवास के दौरान दो अवसरों पर उन्होंने देशी सैनिकों के साथ बहुत संदेहास्पद परिस्थितियों में सम्पर्क किया, और अगर यह मान भी लिया जाए कि दान में प्राप्त आटा आजीविका के लिए पर्याप्त साधन है तो भी मैं देखता हूं कि दौलतराम अपने बारे में अथवा अपने झांसी आने और वहां अपनी गतिविधियों के बारे में कोई संतोषजनक कैफियत नहीं दे सकते।"

सिपाहियों को आदेश दिया गया कि वे आर्यसमाजी पत्र 'आर्य मित्र' और 'सत् धर्म प्रचारक' न पढ़ें। इलाहाबाद में नियुक्त सेना के एक नायक को आदेश दिया गया कि या तो वह नौकरी छोड़ दे और नहीं तो समाज की सदस्यता छोड़ दे।

अंग्रेजों की कोप दृष्टि कांगड़ा के गुरुकुल और लाहौर के डी.ए.वी. कालेज पर भी थी। इन संस्थाओं पर निगाह रखने और इनकी गतिविधियां सरकार को सूचित करने के लिए खुफिया एजेंट तैनात किए गए। लार्ड मेस्टन ने गुरुकुल का तीन बार मुआयना किया। गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली पर चर्चा करने के लिए लार्ड हार्डिंग ने महात्मा मुंशी राम को तीन बार

मुलाकात का मौका दिया। अक्तूबर 1916 के अंत में लार्ड चेम्सफोर्ड ने भी गुरुकुल का दौरा किया।

कुछ लोगों का कहना है कि 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा 'द आर्य समाज एण्ड इट्स डिटेक्टर्स: ए विंडिकेशन' पर सरकार ने प्रतिबंध लगाया, यह बात गलत है। सिंध में मुस्लिम लीग के जोर के कारण सरकार ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के 14वें समुल्लास पर प्रतिबंध लगाया।

इसी प्रकार दूसरी पुस्तक को भी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध माना गया। इस पुस्तक को सरकार के नीचे से ऊपर तक के सभी लोगों ने पढ़ा और अंत में पंजाब के ले. गवर्नर के चीफ सैक्रेटरी मिस्टर जे. डब्ल्यू. होज ने केन्द्रीय सरकार को सूचित किया:

''इस पुस्तक पर प्रतिबंध लगाना या इसके मुद्रक से जमानत मांगना इसका बहुत प्रभावकारी विज्ञापन सिद्ध होगा, और तब इसे जनता के एक वर्ग की दृष्टि में वह महत्व प्राप्त हो जाएगा जो अभी तक इसे नहीं मिल सका है। भविष्य में यदि यह जनता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करे अथवा किसी आन्दोलन का कारण बने तब इसके विरुद्ध कोई कार्रवाई करना उचित हो सकता है। फिलहाल ले. गवर्नर ऐसा नहीं समझते कि पुस्तक के मुद्रक के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करना अथवा पुस्तक को जब्त करना जरूरी या बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य होगा।''

दसवीं जाट रेजिमेंट के प्रति सरकार का रवैया अमैत्रीपूर्ण था। लेकिन पटियाला रियासत के साथ बुरा नहीं था। पटियाला रियासत ही आर्य समाज के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करती थी। पटियाला की आर्य समाज शाखा रियासत की सबसे अधिक लोकप्रिय धार्मिक संस्था थी। रियासत के कुछ प्रमुख अधिकारी इसके सक्रिय सदस्य थे और बहुतों की सहानुभूति इसके साथ थी। समाज के प्रभाव से रियासत के प्रशासन में कार्य कुशलता और शुद्धता थी। रियासत के जिला मजिस्ट्रेट मिस्टर वार्बटन ने शरारत की। वह रिटायर होने वाले थे, लेकिन नौकरी में एक्सटेंशन पाने की कोशिश में वह सरकार को खुश करने के लिए आर्यसमाजियों का दमन करने का उपाय करने लगे। उन्होंने एक गोपनीय रिपोर्ट सरकार को दी कि रियासत में आर्य

समाज राजद्रोहात्मक गतिविधियों में लगी हुई हैं। आर्य समाज षड्यंत्रों का अड्डा है, और यदि तत्काल कदम न उठाए गए तो परिणाम भयंकर होंगे। सरकार की अनुमति प्राप्त करके वृद्ध जिला मजिस्ट्रेट ने अन्य अधिकारियों की सहायता से करीब 84 व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया। जब मामला अदालत के सामने आया तो इनमें से अधिकांश पर 'आर्यसमाजी होने और शेष पर उनसे सहानुभूति रखने का अभियोग लगाया गया। अभियुक्तों पर आरोप लगाया गया कि उन्होंने ब्रिटिश भारत पर सम्राट की प्रभुसत्ता खत्म करने का षड्यंत्र किया था। लेकिन जैसे ही यह बात सामने आई कि उन लोगों के विरुद्ध कोई ठोस सबूत नहीं है, पंजाब के ले. गवर्नर ने, जो आर्य समाज के सबसे कट्टर शत्रुओं में से था, आर्य समाज को राजद्रोह के आरोप से मुक्त कर दिया और सरकार अब मुकदमे वापस लेने को उत्सुक हो उठी। अनेक अभियुक्त ब्रिटिश भारत के नागरिक थे, और अन्य अनेक लोगों को रियासत में पुनः प्रवेश करने की इजाजत दे दी गई।

राजद्रोह का ठप्पा एक बार फिर लगाया गया और 10वीं जाट रेजिमेंट के कुछ सिपाहियों को सजा दी गई तथा उसके आफिसर-इन-चार्ज, कर्नल प्रेसी को उनके पद से हटा दिया गया। अनुशासन की यह कार्रवाई उनके विरुद्ध इसलिए की गई कि कर्नल प्रेसी को "आर्य समाज आंदोलन की निर्दोषता में विश्वास था और उसी विश्वास के अनुरूप उन्होंने आचरण किया था।"

ऐसा आरोप लगाया गया था कि आर्य समाज ने राजद्रोह का प्रचार करने वाली पुस्तकें सिपाहियों के बीच, खासतौर से 10वीं जाट रेजिमेंट में, वितरित करके सिपाहियों की राजनिष्ठा को नष्ट करने का प्रयत्न किया था।

अपनी स्थापना के आरम्भिक काल से ही 10वीं जाट रेजिमेंट के सैनिकों को आर्य समाज के कार्यकलापों में दिलचस्पी रही थी। 1898 में यह रेजिमेंट कर्नल हिंग्स्टन की अधीनता में बनारस में नियुक्त थी, और इसी वर्ष रेजिमेंट में एक आर्य समाज 'सभा' आरम्भ की गई जिसमें बहुत से सिपाही भाग लेते थे। इसमें बनारस नगर के अनेक आर्यसमाजी भी शामिल होते थे। यह सारा व्यापार विशुद्ध रूप से धार्मिक था। जब यह रेजिमेंट सिल्चर में थी तो

भारतीय सेना के कमांडर-इन-चीफ को अनेक गुमनाम पत्र हिन्दी में लिखे मिले जिनके ऊपर 'ओम' अक्षर लिखा होता था जो आर्य समाज का प्रतीक चिह्न था। 1904 में जब यह रेजिमेंट कानपुर में थी तो इसके सैनिकों ने शहर के निकट आर्य समाज के सभागार में होने वाली सभाओं में शामिल होना शुरू कर दिया। एक आदेश निकाल कर इसे रोक दिया गया और निषेधाज्ञा के द्वारा छावनी के अंदर ऐसी किसी पुस्तक लाने की मनाही कर दी गई जिसमें अन्य धर्मों की निंदा हो। सितम्बर 1905 में सिपाही सुरंजन ने स्वदेशी के बारे में आयोजित एक सभा में भाग लिया। इसके लिए उसे दंडित किया गया। 1906 में अधिकारियों को पता चला कि 10वीं जाट रेजिमेंट और 10वीं हाडसन हार्स रेजिमेंट के जवान इन्फेंट्री लाइन में सभाएं करते हैं, जहां दूसरे धर्मों को गाली देने वाली किताबें पढ़ी जाती हैं और राजनीतिक दृष्टिकोण रखने वाले अखबार जैसे 'केसरी', 'जाट समाचार' और 'जाट हितकारी' आदि मंगाए जाते हैं।

1907 में ले. कर्नल प्रेसी को चौथी राजपूत रेजिमेंट से 10वीं जाट रेजिमेंट में लाया गया। उसे सेना के एड्जूटेंट जनरल ने चेतावनी दे दी थी कि राजद्रोह और स्वदेशी आंदोलन से सम्बंधित रेजिमेंट के अंदर की सारी सूचना पाने का प्रबंध उसे करना चाहिए। जून में एड्जूटेंट जनरल ने ले. कर्नल प्रेसी को सूचित किया कि खुफिया विभाग के अनुसार 10वीं जाट रेजिमेंट आर्य समाज की कट्टर समर्थक है और उसके अंदर आर्य समाज की बड़ी खराब-खराब शिक्षाएं दी जाती हैं। इस मुद्दे पर कर्नल प्रेसी ने सूबेदार मेजर, हवलदार और अन्य देसी अफसरों से बात की और यह जानकारी प्राप्त की कि रेजिमेंट में किसी प्रकार की धार्मिक कट्टरता है ही नहीं। जो एक सूचना उसे मिली वह यह थी कि लगभग दो वर्ष पूर्व जब कर्नल हंटर रेजिमेंट के कमांडर थे, उस समय चार सिपाहियों को रेजिमेंट से निकाल दिया गया था और उनकी सारी पुस्तकें जलवा दी गई थीं क्योंकि उसको बताया गया था कि ये सैनिक आर्यसमाजी थे और मांस नहीं खाते थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में एड्जूटेंट जनरल को सूचित किया कि उनके मत में उक्त वक्तव्य अनुमानों पर आधारित था, तथ्यों पर नहीं। तथापि कर्नल प्रेसी ने सरकार के प्रति अपनी निष्ठा का प्रदर्शन किया और कानपुर में राजद्रोही प्रभावों के

विरुद्ध निम्न कदम उठाए: (1) शहर को निषिद्ध स्थान घोषित कर दिया गया, (2) बिना अनुमति पत्र प्राप्त किए जवानों को वहां जाने का निषेध था, (3) देसी अफसरों को ऐसे बाहरी लोगों के विरुद्ध सचेत किया गया जो छावनी में आकर राजद्रोह की बातें करते थे, और (4) सारी डाक सीधे कमांडेंट के घर पर ही पहुंचाई जाने लगी। वह कानपुर की उस सभा में गए जिसमें लाला लाजपत राय ने भाषण किया था और वहां उन्होंने उन सैनिकों की शिनाख्त की जो सभा में मौजूद थे। इसके बाद उन्होंने इन सैनिकों के नान-कमीशंड अफसर को दंडित किया। 1908 में रेजिमेंट अलीपुर चली गई जहां कर्नल प्रेसी राजस्व तथा अन्य कामों में लगा दिए गए। इसके बाद वह मार्च 1908 में आठ महीने की छुट्टी पर चले गए और अपना पद-भार अपने कनिष्ठ अधिकारी मेजर राइट को सौंप गए।

इसके कुछ ही समय बाद मेजर राइट ने ध्यान दिया कि ई. कम्पनी के देसी अफसरों के क्वार्टरों के सामने एक सभा रोज होती है। इस कम्पनी के अफसर थे सूबेदार हरीराम, नायक जोतराम और सिपाही जोगराम। मेजर राइट को गहरा संदेह था कि सूबेदार हरीराम ने बिपिन चन्द्र पाल से मुलाकात की थी जो एक प्रसिद्ध 'राजद्रोही' थे। बाद में जोतराम और जोगराम को दंडित किया गया। मेजर राइट को रेजिमेंट के जनेऊधारी सिपाहियों की कुछ शरारतों का भी सामना करना पड़ा।

छुट्टी से लौटने पर कर्नल प्रेसी ने जब कार्यभार संभाला तो उनसे फिर कहा गया कि वह रेजिमेंट की गतिविधियों की रिपोर्ट सरकार को दें। उनकी अनुपस्थिति में रेजिमेंट प्रशिक्षण के लिए मिदनापुर गई थी जहां कुछ गड़बड़ी हुई थी: 10वीं जाट रेजिमेंट के लोग उग्रवादियों की ओर आकर्षित हुए थे; वे कुमारी केनेडी और श्रीमती केनेडी के हत्यारे खुदीराम बोस के घर गए थे। कर्नल प्रेसी ने भर्ती क्षेत्रों के कलेक्टर, पुलिस सुपरिंटेंडेंट, डिप्टी कमिश्नर और पुलिस, तथा अंग्रेज अफसरों, देसी अफसरों और जिस जिले में रेजिमेंट सभा हुई थी वहां के चुने हुए नागरिकों से सूचना एकत्र करने के बाद एक रिपोर्ट तैयार की। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि राजद्रोह का कोई प्रचार नहीं किया जा रहा है। अंत में अपने निष्कर्ष देते हुए उन्होंने कहा:

> "व्यक्तिगत रूप से मुझे 'सत्यार्थ प्रकाश' में राजद्रोह की कोई बात नजर नहीं आती और मैं इस बात को कोई महत्व नहीं देता कि रेजिमेंट के बहुत से सिपाही आर्यसमाजी हैं। अगर रोका न जाए तो जवान लोग तमाशों में जाएंगे ही, और अगर दूसरे लोग ताली पीटेंगे तो निश्चय ही वे भी ताली बजाएंगे। लेकिन जिस तरह किसी ऐसे आदमी को संगीतकार नहीं कहा जा सकता जिसे बैंड बाजा सुनना अच्छा लगता है और जो स्वयं भी एक वाद्ययंत्र बजाने की कोशिश करता है, उसी तरह कोई व्यक्ति सिर्फ इसलिए आर्यसमाजी नहीं हो जाता कि वह एक-दो सभाओं में शामिल हुआ है और उसे दयानन्द की शिक्षाएं अच्छी लगती हैं।...."

कर्नल प्रेसी की रिपोर्ट सरकारी रवैये के अनुकूल नहीं थी। आर्य समाज को दबाने में इससे कोई मदद नहीं मिलती थी। अतः कर्नल प्रेसी को रेजिमेंट से हटा देना जरूरी था। अचानक उनको 10वीं जाट रेजिमेंट से तबादला करके इंग्लैंड भेज दिया गया। कहा गया कि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं थे, सरकार के प्रति जिम्मेदारी अनुभव नहीं करते थे और स्वयं अपनी जाति के प्रति निष्ठावान नहीं थे। दक्षिणी आर्मी के सेनापति जनरल अफसर कमांडिंग ने कर्नल प्रेसी के बारे में एक गोपनीय रिपोर्ट तैयार की जिसके निष्कर्ष में कहा गया था:

> "सम्पादित निष्कर्ष यह है कि जो मुद्दे दाव पर लगे थे उनके महत्व को मिस्टर प्रेसी समझने में असफल रहे और अपने पद की जिम्मेदारियों को उन्होंने नहीं समझा।"

इसी समय से अधिकारियों ने आर्य समाज की गतिविधियों पर कड़ी निगाह रखनी शुरू कर दी और सरकार ने सेना में आर्यसमाजियों को भर्ती न करने का फैसला किया।

किन्तु सच बात यह है कि आर्य समाज राजद्रोही संस्था नहीं थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके संदेशों ने भारतवासियों के हृदय में अपने देश के प्रति प्रेम की भावना उत्पन्न की, लेकिन किसी राजनीतिक आंदोलन में उसने प्रत्यक्ष रूप से कोई भाग नहीं लिया। बल्कि उसका तो कहना था कि

राजनीतिक आंदोलन व्यर्थ है क्योंकि जो राष्ट्र अपने करोड़ों सदस्यों को अछूत समझता हो, उसे स्वतंत्रता और लोकतंत्र की बात करने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसे बहुत से सरकारी अधिकारी और खुफिया एजेंट थे जो आर्य समाज को मात्र एक सामाजिक और धार्मिक संस्था मानते थे। 1891 के पंजाब की अपनी जनगणना रिपोर्ट में सर एडवर्ड मैकलेगन ने कहा था: "आर्य समाज के सदस्य मुख्यतः एक ही जाति से भर्ती किए जाते हैं और आर्य समाज का अपना एक बहुत ही सुगठित संगठन है। इन तथ्यों के आधार पर उसके ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि वह एक संस्था के रूप में अपने सदस्यों की प्रवृत्तियों का भी समर्थन करता है। लेकिन सच बात यह है कि आर्य समाज एक राजनीतिक संगठन नहीं, बल्कि एक धार्मिक संस्था है।" संयुक्त प्रांत की 1901 की जनगणना रिपोर्ट में मिस्टर बर्न ने लिखा था: "यह बात कि आर्य लोग भावी राजनीतिज्ञ हैं, सही है, लेकिन चूंकि वे आर्य हैं, इसलिए ही ऐसा है; यह बात बहुत ही संदेहपूर्ण है।" उसी प्रांत की 1911 की जनगणना रिपोर्ट में श्री ब्लंट ने कहा, "आर्य समाज एक राजनीतिक संस्था नहीं है।" श्री एल. डांस ने लिखा था: "मुझे बिल्कुल विश्वास नहीं है कि आर्य समाज ऐसी संस्था है जिस पर कोई रोक लगाई जानी चाहिए। उत्तर भारत में हमारे अधिकांश योग्य और सर्वोत्तम हिन्दू अफसर आर्य-समाजी हैं और हो सकता है कि कुछ राजनीतिज्ञ भी आर्य समाज में शामिल हो गए हों, तथापि मेरा विश्वास है कि आर्य समाज का वास्तविक उद्देश्य हिन्दू धर्म की बुराइयों में सुधार लाना है और यदि ऐसा है तो हमें सुधारकों के साथ सहानुभूति ही रखनी चाहिए।" 1904 में महाहिम रिजले ने कहा था: "आर्य समाज के बारे में अधिकारपूर्वक बोलने का मुझे अधिकार नहीं है किन्तु जनगणना के दौरान की गई पूछताछ से और जनगणना रिपोर्ट से मैं यही समझ सका हूं कि आर्य समाज एक सामाजिक और धार्मिक संगठन है और यह केवल इसी अर्थ में राजनीतिक है कि इसके अनेक सदस्य राजनीतिज्ञ भी हैं। कोई राजनीतिक आंदोलन आरम्भ होने की दशा में आंदोलनकारी आर्य समाज संगठन का भी उपयोग करने का प्रयत्न करेंगे, बशर्ते कि वे समाज के प्रभावशाली सदस्य हों। इस हद तक तो अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों द्वारा आरम्भ किया गया कोई धार्मिक आंदोलन भी

राजनीतिक हो सकता है। आर्य समाज और ब्रह्म समाज, दोनों का आरम्भ ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा किया गया था और दोनों पर ही पश्चिमी विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा है। आर्य समाज विशेष रूप से यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि विद्युत आदि जैसी आधुनिक वैज्ञानिक खोजों का सूत्र वेदों में उपलब्ध है और वे इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर हिन्दू-पुनर्जागरण का प्रयत्न कर रहे हैं ताकि वे पश्चिमी विचारों की नकल कोशिश करता है कि विद्युत आदि जैसी आधुनिक वैज्ञानिक खोजों का सूत्र वेदों में उपलब्ध है और वे इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर हिन्दू-पुनर्जागरण का प्रयत्न कर रहे हैं ताकि वे पश्चिमी विचारों की नकल कारण नहीं दिखाई पड़ता कि किसी आर्य को सिर्फ आर्य होने के कारण किसी पद के अयोग्य माना जाना चाहिए।" उन्होंने आगे कहा कि आर्य समाज का सामाजिक पक्ष पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ रहा है। आर्यसमाजी लोगों ने शिक्षा को बढ़ावा दिया है, बाल विवाह का विरोध किया है, विवाह में धन के अपव्यय को रोका है और शादी-ब्याह और खान-पान के मामले में जात-पांत के विचार के विरुद्ध लड़ने की कोशिश की है।

राष्ट्र-निर्माता दयानन्द

पिछले अध्यायों में जो कुछ कहा जा चुका है उसके आधार पर अब यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक ही है कि स्वामी दयानन्द कट्टर पुरातनवादी व्यक्ति थे और उन्होंने अपने सिद्धांतों पर पूरी तरह अमल किया। वह एक शक्तिशाली, ओजस्वी, स्वतंत्रचेता योद्धा थे और कुछ हद तक अपने व्यवहार में दबंग थे। वर्षों तक अपने ही देशवासियों द्वारा की जाने वाली निंदा और उत्पीड़न का उन्होंने जिस साहस के साथ सामना किया, वह अद्भुत है। वह सत्य के उत्कट प्रेमी, सच्चे देशभक्त तथा आधुनिक भारत के निर्माता थे।

धर्मशास्त्र के ज्ञाता के रूप में उन्होंने ईश्वर और वेदों के बारे में सुदृढ़ विचार प्रस्तुत किया। वह एक परमात्मा और चार वेदों में विश्वास रखते थे। उनकी शैव पृष्ठभूमि ने उन्हें एकेश्वरवादी बनाया था। घर का परित्याग करने के बाद उन्होंने अद्वैत का अध्ययन किया जिसने उन्हें ब्रह्म और आत्मा की एकता में आस्था प्रदान की। उन्होंने गहरी योग साधना की जिससे उन्हें अद्भुत बुद्धि और शरीर बल की प्राप्ति हुई। स्वामी विरजानंद सरस्वती के पास रहते हुए ईश्वर सम्बंधी उनकी धारणा एक नए ढंग से बदलनी शुरू हुई। वह अब अपने एकेश्वरवाद के बुनियादी सिद्धांत पर पहुंचे कि ईश्वर एक सर्वव्यापी शक्ति है जो संसार और आत्मा से भिन्न है। वह सबका स्रष्टा है और चराचर जगत में उसकी शक्ति व्याप्त है।

उनका विचार था कि ईश्वर में अपनी आस्था के कारण ही कोई अच्छा आदमी अच्छे काम की प्रेरणा पाता है। ईश्वर में आस्था मनुष्य को अपने सहमानव के कल्याण के लिए धूप और वर्षा की चिन्ता किए बगैर अनवरत काम करने की शक्ति देती है। वह ईश्वर से अपने भक्तजनों के लिए पर्वत

को चलायमान कर देने की अपेक्षा नहीं करते थे; उनका तो विश्वास था कि ईश्वर मनुष्यों को ही इतनी शक्ति और विवेक प्रदान कर देगा कि यदि जरूरी हो तो वे स्वयं पर्वत को चलायमान कर दें। वह जन्म या व्यवसाय पर आधारित पुरोहित वर्ग को अमान्य ठहराते थे। बुद्ध की भांति ही उन्होंने भी मनुष्य और ईश्वर के बीच किसी बिचौलिए की आवश्यकता से इनकार किया।

दयानन्द को हिन्दू धर्म की प्राचीन जड़ों की ओर अभिमुख करने का श्रेय एकमात्र स्वामी विरजानंद को है। उन्होंने बताया कि शुद्धतम हिन्दू धर्म के प्रामाणिक सूत्र केवल ऋषियों के प्राचीन ग्रंथों में ही मिलते हैं। गुरु से अलग होने के बाद दयानन्द ने सात वर्षों तक, जो भी ग्रंथ मिला, उसका अध्ययन किया। उन्होंने धीरे-धीरे सभी तंत्रशास्त्रों, पुराणों को अलग करके रख दिया और अंत में 1870 में उन्होंने घोषणा की कि ईश्वरीय ज्ञान केवल चार वेदों में ही उपलब्ध है। ये चार वेद हैं ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। उनका दृढ़ मत था कि मानव-बुद्धि के लिए जितना कुछ ग्रहण कर सकना सम्भव है, उतना ज्ञान वेदों में दिया हुआ है। उन्होंने लोगों से कहा कि वे सत्य की खोज स्वयं करें और पुरोहित वर्ग द्वारा प्रस्तुत किया गया सत्य कदापि न स्वीकार करें। उन्होंने अपने जीवन काल में ही अनेक पाठशालाओं और स्कूलों की स्थापना की। स्वामीजी की लाहौर यात्रा के तुरंत बाद वहां की आर्य समाज शाखा ने पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन के लिए एक अकादमी की स्थापना की।

उन्होंने भारत के गौरवशाली अतीत का स्मरण दिलाते हुए 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया। कट्टरपंथी हिन्दुओं द्वारा मान्य धार्मिक साहित्य को नकारते हुए उन्होंने भारत के उस समय के प्राचीन स्वरूप की स्पष्ट झांकी प्रस्तुत की, जब महान् ग्रंथों की रचना की गई थी। उन्होंने मनु द्वारा की गई राजाओं के कर्तव्यों की व्याख्या को खोज निकाला और सिद्ध किया कि उस प्राचीन काल में भी राजा सभाओं की सहायता से शासन करता था। उन्होंने भारत के स्वर्ण युग को पुनरुज्जीवित किया। भारत पर पाश्चात्य विचारधारा के आक्रमण के बाद पहली बार स्वामी दयानन्द ने भारतवासियों को बताया कि उन्हें अपने अतीत पर गर्व करने का अधिकार

है। स्वामी दयानन्द ने उन्हें अन्य धर्मावलम्बियों को सही परिप्रेक्ष्य में देख सकने की दृष्टि दी।

समाज सुधारक के रूप में दयानन्द ने देश में प्रचलित जाति प्रथा को अस्वीकार किया जो जन्म पर आधारित थी और जिसने लोगों को अनेक श्रेणियों में बांट कर तरह-तरह के निषेधों में जकड़ रखा था। किन्तु उन्होंने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को स्वीकार किया जिसमें गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर समाज का विभाजन किया गया था और जिसमें चिन्तकों और मनीषियों को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया था। इस प्रकार उन्होंने पंडितों या विद्वानों के एक नए समूह को उत्पन्न किया जिसमें सभी वर्गों के लोग शामिल थे। उन्होंने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और इस प्रकार धार्मिक और सामाजिक एकता का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी कामना थी कि राष्ट्र की सेवा के लिए सुधारकों और विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं के मानने वालों और संस्थाओं को एक ही मंच पर एकत्र किया जाए। आधुनिक भारत में सम्भवतः सर्वप्रथम 'एकता सम्मेलन' आज से एक सौ साल पहले स्वामी दयानन्द ने ही आयोजित किया था। सम्मेलन सफल नहीं हो सका। लेकिन इसके लिए दयानन्द की 'असहिष्णुता' को दोष देने से पहले हमें देखना चाहिए कि कितनी ईमानदारी के साथ उन्होंने एक से अधिक बार सच्ची, वास्तविक और कारगर एकता के लिए प्रयत्न किया था। भारत के महान तत्वज्ञ केशवचंद्र सेन ने इस सम्मेलन के लिए अपनी शुभकामनाएं दी थीं। केशवचंद्र के प्रभाव में निकलने वाले पत्र 'इंडियन मिरर' ने 1877 में लिखा था कि वर्तमान सुधारकों के बीच एकता स्थापित करने के उद्देश्य से पंडित दयानन्द सरस्वती के घर पर आयोजित सम्मेलन यदि वास्तविक और व्यावहारिक स्तर पर एकता स्थापित करने में सफल हो सके तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि इसका परिणाम बहुत कल्याणकारी होगा।" दयानन्द एकता चाहते थे और उसके लिए सदा प्रयत्नशील रहे।

सामाजिक क्षेत्र में विधवा विवाह आंदोलन को सुदृढ़ किया गया, शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की गई और राष्ट्रीय शिक्षा के विचार को प्रतिपादित किया गया। शिक्षा के क्षेत्र में दयानन्द और उनके आर्य समाज ने अभूतपूर्व

सेवा की। शिक्षा के आंदोलन का तत्कालीन भारत पर दोहरा प्रभाव पड़ा। यह सिद्ध हो गया कि अंग्रेजी और पाश्चात्य विज्ञान की शिक्षा भारतवासियों को बिना इस बात का खतरा महसूस किए दी जा सकती है कि वे इसके प्रभाव में आकर ईसाई बन जाएंगे अथवा दम्भ के शिकार हो जाएंगे। इस तरह मैकाले का यह स्वप्न, स्वप्न ही रह गया कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारत को ईसाई बनाया जा सकेगा।

वेदों और वैदिक धर्म की दयानन्द ने जो व्याख्या की उसके प्रकाश में आर्य समाज एक पुनरुत्थानवादी संस्था के रूप में प्रकट हुई। जिस स्वर्ण युग का चित्र उन्होंने प्रस्तुत किया वह निश्चय ही विगत की चीज थी, लेकिन उनको विश्वास था और उन्होंने करोड़ों लोगों में यह विश्वास उत्पन्न किया कि उस युग को भारत में फिर से लाया जा सकता है। भारत में मुसलमानों के शासन काल के दौरान छोटे-बड़े सभी वर्गों के भारतीयों ने एक निराली श्रेष्ठता की भावना अपने अंदर पाल रखी थी जिस पर शासकों को भी आपत्ति करने का साहस नहीं था। लेकिन पश्चिमी देशों के आक्रमण के साथ ही भारत में प्रचलित धार्मिक विचारों और विश्वासों पर जो प्रबल आघात होने लगे उनसे भारतवासियों ने अपने को असहाय अनुभव करना शुरू कर दिया। इन आघातों ने उनकी जड़ें तक हिला दीं। दयानन्द ने अभी तक अंधकार के गर्त में पड़े हुए प्राचीन भारत के इतिहास को एक बार फिर प्रकाश में लाकर लोगों के अंदर उसका अध्ययन करने की इच्छा उत्पन्न की। जब भारत का प्राचीन इतिहास युगों के दौरान निरंतर पतन के गर्त में गिरने की कहानी के रूप में प्रस्तुत किया जाता था तब उसे पढ़ने की रुचि शिक्षित भारतीयों में कहां से उत्पन्न होती? हमने पश्चिम के इस दावे को सर झुकाकर स्वीकार कर लिया था कि 'सभ्यता' के एकमात्र वारिस वहीं के लोग हैं। किन्तु दयानन्द ने पश्चिमी पांडित्य को प्रबल चुनौती दी। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि पश्चिमी विद्वानों ने भारत के प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन न करके मध्यकाल में किए गए उनके भाष्यों का अध्ययन करके ही अपने निष्कर्ष निकाले हैं। इसके साथ ही एक नया दौर शुरू हुआ जिसमें भारतीय विद्वानों ने इस विश्वास के साथ अपने प्राचीन साहित्य का शोध कार्य आरम्भ किया कि भारतीय संस्कृति के रहस्यों का सच्चा उद्घाटन पश्चिम

के विद्वानों के बस की बात नहीं है; यह कार्य सिर्फ भारतीय विद्वान स्वयं कर सकते हैं। इसके साथ ही आत्मविश्वास की एक नई लहर दौड़ाता एक नया युग शुरू हुआ।

दयानन्द का उद्देश्य आर्यावर्त का पुनर्निर्माण करना था। उन्होंने भारतवासियों में यह भावना पैदा करने का प्रयास किया कि भारत उनका अपना देश है। उन्होंने सार्वजनिक रूप से वाद-विवाद सभाओं में भाग लेकर इन शास्त्रार्थों के जरिए हरिद्वार, बनारस, कलकत्ता, मथुरा, प्रयाग भागलपुर और अन्य स्थानों पर सुधार आंदोलनों का सूत्रपात किया। बनारस का शास्त्रार्थ सबसे महत्वपूर्ण था क्योंकि इसमें उन्होंने काशी के पंडितों को पराभूत करके सार्वदेशिक ख्याति और महत्व अर्जित कर लिया। बनारस में ही स्वामीजी की भेंट बम्बई और कलकत्ता के सुधारकों से हुई। बनारस में ही दयानन्द ने वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना के जरिए आर्यावर्त के पुनर्निर्माण के अपने स्वप्न की सार्वजनिक उद्घोषणा की।

बम्बई में दयानन्द सरस्वती को अपने सुधार सम्बंधी प्रयत्नों को एक ठोस संगठनात्मक आधार प्रदान करने का अवसर प्राप्त हुआ। गुजरातियों का एक सुगठित समूह अपने धर्म को परिष्कृत करने के लिए वेदों की ओर निहार रहा था। इन लोगों को दयानन्द के रूप में एक प्रेरणा प्रदायक नेता मिल गया और दयानन्द को अपने कार्य के लिए कार्यकर्ताओं का पहला जत्था प्राप्त हुआ।

बम्बई में आर्य समाज की पंहली शाखा खुली, लेकिन पंजाब ने आर्य समाज को एक विस्तृत संगठनात्मक आधार प्रदान किया। पंजाब में मिलने वाली सफलता के दायरे में संयुक्त प्रांत का पश्चिमी भाग भी आ गया और इस क्षेत्र में समाज की अनेक शाखाएं स्थापित हुईं। दयानन्द ने अपने आंदोलन को एक व्यापक आधार प्रदान करने का जो स्वप्न देखा था वह मूर्तरूप ग्रहण करने लगा था। इसके बाद देश के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधार का आंदोलन प्रारम्भ हुआ। कट्टरपंथियों के गढ़ों पर आक्रमण किए गए, जाति प्रथा और अस्पृश्यता की धज्जियां उड़ाई जाने लगीं, विधवा विवाह के पक्ष में जनमत तैयार किया जाने लगा और समाजोत्थान के अन्य

दूसरे काम शुरू हुए। दयानन्द अस्पृश्य और नीच समझे जाने वाले लोगों का सामाजिक स्तर और दर्जा ऊंचा उठाने के लिए बहुत उत्सुक थे और अब धीरे-धीरे आम हिन्दू यह समझने लगा कि ईसाई और मुसलमान धर्मप्रचारक इन्हीं जातियों के लोगों में धर्म परिवर्तन का काम सफलतापूर्वक कर रहे हैं।

एक राष्ट्रवादी और राष्ट्र निर्माता के रूप में दयानन्द का स्थान शीर्षस्थ नेताओं के बीच रहेगा। उन्होंने जब हिन्दुओं के दलित-पीड़ित वर्ग की ओर ध्यान दिया तब उनके विचारों को एक नयी दृष्टि मिली। अभी तक उन्होंने धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों की ओर ही ध्यान दिया था और राजनीतिक पक्ष के प्रति उदासीन ही रहे थे। अब राजनीतिक प्रश्नों की ओर उनकी रुचि अधिकाधिक बढ़ने लगी। अब उनके भाषणों और लेखों में राजनीतिक राष्ट्रवाद, राजनीतिक स्वाधीनता तथा ब्रिटिश शासन की बुराइयों का जिक्र होने लगा। इस नई चेतना को 'सत्यार्थ प्रकाश' के दूसरे संशोधित संस्करण में अभिव्यक्ति मिली जिसमें उन्होंने ईसाई और ब्रिटिश विरोधी उग्र विचारों को प्रकट किया। दयानन्द की देशभक्ति की जड़ें उनके आर्य सिद्धांत के प्रेम में गड़ी थीं। यह उन लोगों की 'देशभक्ति' नहीं थी जिनके होठों पर तो भारत का नाम होता है किन्तु जिनके खान-पान, वेश-भूषा, आचार-विचार में यूरोप होता है। उनकी देशभक्ति उनके जीवन का ही एक अंग थी। वह पश्चिम की प्रभुता के विरोधी थे और उनका विश्वास था कि सभ्यता और संस्कृति की लहरें आर्यावर्त से चलती हुई दूर-दूर तक फैली हैं।

स्वामी दयानन्द ने राष्ट्रभाषा के प्रसार के लिए आंदोलन आरम्भ किया और भारतीयों की राष्ट्रीय भावना को क्षीण करने वाली अंग्रेजी शिक्षा के बढ़ते कुप्रभावों की भर्त्सना जोरदार शब्दों में करने के साथ ही राष्ट्रीय शिक्षा के महत्व पर बल दिया। वह चाहते थे कि बच्चों को सही ढंग की वैदिक शिक्षा प्रदान की जाए। वह पहले भारतीय थे जिन्होंने ललकार कर कहा था कि सुराज स्वराज का विकल्प नहीं हो सकता। उन्होंने इन दोनों के बीच के अंतर को बहुत स्पष्टता के साथ प्रकट किया। दयानन्द के इस धधकते हुए देश प्रेम ने भारतीय राष्ट्रवाद को आधारिक व्यापकता प्रदान की और उसे जनता के साथ जोड़ा। उन्होंने उस पृष्ठभूमि का निर्माण किया

जिसके ऊपर बाद के उग्रपंथियों और राष्ट्रवादियों को फलने-फूलने का अवसर मिला। इस तरह हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द की दृष्टि केवल भारत के धार्मिक या सांस्कृतिक पुनरुत्थान तक ही सीमित नहीं थी बल्कि उन्होंने देश के राजनीतिक और औद्योगिक नव निर्माण पर भी बहुत बल दिया। वह विदेशी वस्तुओं के मुकाबले देश में निर्मित वस्तुएं ही पसंद किया करते थे और स्वदेशी के कट्टर समर्थक थे।

महर्षि दयानन्द ने प्रकटतः तो अपने को राजनीति से अलग जरूर रखा, किन्तु गो-हत्या, राष्ट्रभाषा, स्वराज और स्वदेशी सम्बंधी उनके तेजस्वी विचार सिद्ध करते हैं कि वह एक उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ भी थे। उनकी राजनीतिक विचारधारा लोकतंत्र के सिद्धांतों से प्रभावित थी।

दयानन्द राष्ट्रीय एकता के पक्षपाती थे। उन्होंने आपसी फूट के रोग को दुर्योधन की दुर्नीति के समान घातक बताया जिसके चलते हमारी सारी खुशियां छिन गई थीं और हम दुखों के गर्त में डूब गए थे। दयानन्द ने अपने देशवासियों के दोषों को छिपाने की कोई कोशिश नहीं की। अंग्रेज लोग हमारे ऊपर क्यों शासन करते हैं? दयानन्द ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लोगों का ध्यान अंग्रेजों की देशभक्ति, उनके बलिदानों, उनकी शिक्षा-दीक्षा और उनके अनेक अच्छे सामाजिक रीति रिवाजों की ओर दिलाया। 'सत्यार्थ प्रकाश' में दयानन्द के अनुसार यूरोप के लोगों में बाल विवाह की प्रथा नहीं है। वे अपने बालक-बालिकाओं को अच्छा प्रशिक्षण और शिक्षा देते हैं। वे अपने जीवनसाथी का चयन स्वयं करते हैं। ऐसे विवाह को स्वयंवर कहते हैं। वे किसी समस्या पर स्वयं आपस में विचार करने और उसे प्रतिनिधि सभाओं के सम्मुख प्रस्तुत करने के पश्चात ही कोई कार्रवाई करते हैं। वे अपने राष्ट्र की भलाई के लिए अपना धन, अपने प्राण, अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। वे आलसी नहीं है बल्कि सक्रिय जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपने से बड़ों की आज्ञा का पालन करते हैं। वे व्यापार आदि में अपने देशवासियों की सहायता करते हैं। ऐसे श्रेष्ठ गुणों और उत्तम कार्यों के बल पर ही यूरोप के लोग इतनी उन्नति कर सके हैं। दयानन्द चाहते थे कि भारतीयों में ऐसे गुणों का विकास हो और उनमें अपने देश की आजादी के

लिए संघर्ष करने की क्षमता उत्पन्न हो। उनका विश्वास था कि इस नई जागृति से ही एक नए भारत का जन्म होगा।

महर्षि दयानन्द ने जो नव जागृति पैदा की उससे एक ऐसा वातावरण बना जिसमें राजनीतिक दासता सहन नहीं की जा सकती थी। हालांकि अंग्रेज सरकार ने आर्य समाज के कार्य-कलापों पर बराबर कड़ी निगाह रखी, लेकिन समाज की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई और उसने भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष को नई प्रेरणा और गति प्रदान की। उग्रपंथियों पर ऋषि दयानन्द के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। तिलक स्वामीजी की शिक्षा और आर्य समाज के कार्यों से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने गो-हत्या विरोधी समितियां, मल्लयुद्ध और लाठी चलाने की शिक्षा देने वाले अखाड़े आदि स्थापित करके महाराष्ट्र के युवकों में पुरुषोचित गुण पैदा करने और आत्मसहायता तथा आत्मत्याग की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया ताकि वे मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने में सक्षम बनें। तिलक ने गणपति समारोह और शिवाजी जयंती जैसे समारोहों को पुनः शुरू किया और दयानन्द की भांति ही भारतीयों में आत्म सम्मान की भावना उत्पन्न की। विपिन चन्द्र पाल भी स्वामी दयानन्द के प्रशंसकों में से थे। उन्होंने दयानन्द की शिक्षाओं में एक शक्तिशाली सुरक्षा अस्त्र देखा जिसकी सहायता से भारतवासी ईसाइयों और मुसलमानों के इस दावे का खंडन कर सकते थे कि उनका धर्म भारत के राष्ट्रीय धर्म से श्रेष्ठ है। उन्होंने शक्ति पूजा को फिर शुरू किया। लाला लाजपत राय स्वामी दयानन्द के अनन्य भक्त और सच्चे अनुयायी थे। अरविंद घोष ने दयानन्द के वैदिक सिद्धांतों से राष्ट्रवाद की परिभाषा प्राप्त की। इन सभी नेताओं ने स्वराज की मांग की और स्वदेशी पर बल दिया। बंग भंग के विरुद्ध होने वाले आंदोलन में स्वदेशी पर जो विशेष बल दिया गया उससे स्वामी दयानन्द की दूरदर्शिता का अनुमान लगाया जा सकता है। राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वदेशी के उनके आग्रह ने जन मानस को प्रभावित किया था और इसके जबर्दस्त राजनीतिक प्रभाव को आज आसानी से समझा जा सकता है।

महात्मा गांधी ने बाद में अपना जो रचनात्मक कार्यक्रम देश के सामने रखा था उसमें से अनेक सूत्रों को दयानन्द और उनके आर्य समाज ने पहले

ही देख लिया था। इनमें राष्ट्रभाषा का प्रचार, राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति, अस्पृश्यता निवारण, कुटीर उद्योगों का पुनरुत्थान और हिन्दू मुस्लिम एकता प्रमुख थे। जिस प्रकार महात्मा गांधी ने एक ऐसी समन्वित, मानवतावादी और सर्वग्राही भारतीय संस्कृति की कल्पना की थी जिसके ऊपर एक नई विश्व व्यवस्था का निर्माण किया जा सके, उसी प्रकार दयानन्द ने भी सम्पूर्ण विश्व को आर्य धर्म में दीक्षित करके उसे उदात्त जीवन-पथ पर अग्रसर करना चाहा था। दयानन्द के विचार सभी राजनीतिक और सामाजिक सुधारकों के लिए आदर्श है। उन्हें किसी एक धार्मिक या सामाजिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में नहीं देखा जा सकता। वह प्रगति के अग्रदूत थे, सच्चे अर्थों में राष्ट्र निर्माता थे। भारतीय राष्ट्रवाद को स्वामीजी और आर्य समाज का योगदान असीम है—क्योंकि उन्होंने उसे अधिक पूर्णता और व्यापकता प्रदान की, उसको देशज चरित्र दिया, उसके स्वर में गर्जन भरा और उदात्त आदर्शों से उसे गरिमा-मंडित किया।

परिशिष्ट-1

स्वामी दयानन्द सरस्वती

(तारीखवार घटनाक्रम)

1824 - जन्म (मोरवी रियासत के टंकारा गांव में)।

1832 - आठ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत संस्कार।

1837 - शिवरात्रि की रात को शिवलिंग पर चूहों को चढ़कर प्रसाद खाते देखकर मूर्तिपूजा पर से आस्था उठ गई। इस समय दयानन्द की आयु लगभग तेरह वर्ष की थी।

1842 - बहन और चाचा के असामयिक निधन से जीवन के प्रति विरक्ति और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई।

1846 - योगियों की तलाश में घर का परित्याग। सायला में ब्रह्मचर्य आश्रम में दीक्षित हुए और शुद्ध चैतन्य नाम धारण किया। स्वामी पूर्णानंद सरस्वती द्वारा संन्यास धर्म में दीक्षित किए गए और दयानन्द सरस्वती नाम धारण किया।

1855 - हरिद्वार के कुम्भ मेले में गए।

1860-1863 - मथुरा में अपने गुरु स्वामी विरजानंद सरस्वती के पास रहकर ज्ञानार्जन किया।

1863 - स्वामी विरजानंद के आदेश पर अपना समस्त जीवन वैदिक धर्म के प्रचार और अंधविश्दासों के उन्मूलन में लगा देने की शपथ ले कर मथुरा से विदा हुए।

1863-1865 - अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने की तैयारी करते हुए आगरा में प्रवास। धर्म प्रचार की यात्रा आरम्भ। जयपुर और पुष्कर में वैदिक धर्म पर प्रवचन। अजमेर में ईसाई पादरियों के साथ प्रथम धार्मिक शास्त्रार्थ।

1867 - दूसरी बार हरिद्वार के कुम्भ मेले में गए, जहां वैदिक धर्म पर प्रवचन दिए, मूर्तिपूजा और जाति प्रथा की आलोचना की। मेले की समप्ति के बाद अपनी सारी पुस्तकें, वस्त्र और धन बांट कर गंगा तट पर अवधूत का जीवन व्यतीत करने लगे।

1868 - राव कर्ण सिंह द्वारा तलवार से आक्रमण करने पर तलवार पकड़ कर दो टुकड़े कर दी और पुनः शांत भाव से अपने आसन पर विराजमान हो गए।

1869 - 16 नवम्बर को बनारस में महाराजा बनारस की अध्यक्षता में हुए शास्त्रार्थ में पंडित ताराचरण तर्करत्न, बाल शास्त्री, स्वामी विशुद्धानंद आदि उद्‌भट सनातनी विद्वानों को पराभूत करके विजय का डंका बजाया।

1872 - अप्रैल में बिहार और बंगाल की यात्रा। दिसम्बर में कलकत्ता में ब्रह्म समाज के प्रमुख नेता केशवचन्द्र सेन तथा आदि ब्रह्म समाज के नेता महर्षि' देवेन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट की।

1873 - 1 अप्रैल को कलकत्ता से प्रस्थान। 8 अप्रैल को हुगली में दयानन्द के साथ हुए शास्त्रार्थ में पंडित ताराचरण तर्करत्न ने अंत में स्वीकार किया कि वेदों में मूर्ति पूजा का समर्थन नहीं किया गया है।

1874 - 26 अक्तूबर को वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए बम्बई पहुंचे और सारे प्रांत का दौरा किया।

1875 - 16 जनवरी को राजकोट में आर्य समाज की स्थापना। 10 अप्रैल को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना।

जून में बनारस से 'सत्यार्थ प्रकाश' प्रकाशित।

जुलाई में महादेव गोविन्द रानडे के निमंत्रण पर पुणे गए।

1876 - दिल्ली दरबार के अवसर पर दिसम्बर में दिल्ली पहुंचे। एक सर्व धर्म एकता सम्मेलन आयोजित किया जिसमें सर सैयद अहमद खां, बाबू केशव चंद्र सेन, मुंशी इंद्रमणि, नवीनचंद्र राय तथा विभिन्न धर्मों के अन्य अनेक नेताओं ने परस्पर मिल कर काम करने के प्रश्न पर विचार किया।

1877 - मार्च में चांदापुर में रेवरेंड एस्काट, रेवरेंड नोबेल और देवबंद के मौलवी मुहम्मद कासिम के साथ धर्म पर शास्त्रार्थ किया।

24 जून को लाहौर में आर्य समाज की स्थापना और आर्य समाज के दस सूत्री सिद्धांत स्वीकृत।

1878 - मई में अमरीका में कर्नल ओलकाट और मैडम ब्लैवाट्स्की द्वारा स्थापित थियोसोफिकल सोसाइटी को भारत के आर्य समाज की एक शाखा बना दिया गया।

1879 - 17 फरवरी को हरिद्वार के कुम्भ मेले में भाग लेने हरिद्वार पहुंचे। 1 मई को कर्नल ओलकाट और मैडम ब्लैवाट्स्की ने सहारनपुर में स्वामी दयानन्द से भेंट की।

बरेली में स्वामीजी और रेवरेंड स्काट के बीच शास्त्रार्थ।

1880 - 12 फरवरी को स्वामीजी की रचनाओं को छापने के लिए 'वैदिक यंत्रालय' नामक मुद्रणालय की स्थापना।

1882 - 28 मार्च को स्वामीजी ने आर्य समाज का सम्बन्ध थियोसोफिकल सोसाइटी से तोड़ दिया।

जुलाई में उदयपुर की यात्रा। रियासत के महाराणा सज्जन सिंह स्वामीजी के शिष्य बने।

1883 - 27 फरवरी को स्वामीजी का 'स्वीकार पत्र' (वसीयत नामा) उदयपुर में पंजीकृत किया गया और परोपकारिणी सभा की स्थापना हुई।
जून में जोधपुर गए।
26 सितम्बर को स्वामीजी बीमार हुए।
30 अक्टूबर को अजमेर में स्वामीजी का निधन।

परिशिष्ट-2

कुछ प्रसिद्ध शास्त्रार्थ

वर्ष		स्थान	विरोधी पक्ष
1866		अजमेर	रेवरेंड ग्रे, रावसन और शूलब्रेड
1867		कर्णवास	अनूपशहर के पंडित अम्बादत्त
		रामघाट	पंडित कृष्णानंद
		कर्णवास	पंडित हरिवल्लभ
		सोरों	पंडित अंगद शास्त्री
1868	(अक्तूबर)	काकोरी का मेला	पंडित उमादत्त
		फर्रुखाबाद	पंडित श्रीगोपाल
1869	(19 जून)	फर्रुखाबाद	पंडित हलधर ओझा
		कन्नौज	पंडित हरिशंकर
	(31 जुलाई)	कानपुर	पंडित हलधर ओझा
	(16 नवम्बर)	बनारस	पंडित ताराचरण तर्करत्न, स्वामी विशुद्धानंद, पंडित बाल शास्त्री, पंडित शिवशास्त्री, पंडित माधवाचार्य और पंडित वामनाचार्य
1872		मिर्जापुर	पंडित गोविंद भट्ट, पंडित जयश्री
		डुमरांव	पंडित दुर्गादत्त
		आरा	पंडित रुद्रदत्त, पंडित चंद्रदत्त
	(सितम्बर)	पटना	पंडित रामजीवन भट्ट
		कलकत्ता	पंडित रामावतार, पंडित हेमचंद्र चक्रवर्ती
1873	(23 मार्च)	कलकत्ता	पंडित महेशचन्द्र न्यायरत्न
	(8 अप्रैल)	हुगली	पंडित ताराचरण तर्करत्न
	(25 मई)	छपरा	पंडित जगन्नाथ
	(अक्टूबर)	कानपुर	पंडित गंगाधर
	(18 नवम्बर)	लखनऊ	पंडित गंगाधर
1874	(फरवरी)	इलाहाबाद	पंडित काशीनाथ शास्त्री
	(25 नवम्बर)	सूरत	पंडित इच्छाराम शास्त्री

	भरूच	पंडित माधव राव
	राजकोट	पंडित महीधर
1875 (10 मार्च)	बम्बई	पंडित खेमजी बालजी जोशी
	बम्बई	कमलनयन आचार्य
	बड़ौदा	पंडित यज्ञेश्वर
	बड़ौदा	पंडित अप्पय्या शम्भु
1876 (27 जून)	बम्बई	पंडित रामलाल
(नवम्बर)	मुरादाबाद	रेवरेंड पार्कर
1877 (20 मार्च)	चांदपुर मेला	रेवरेंड स्काट और मौलवी मुहम्मद कासिम
(24 सितम्बर)	जालंधर	मौलवी अहमद हसन
1878 (19 फरवरी)	गुजरांवाला	ईसाई पादरी
(28 नवम्बर)	अजमेर	रेवरेंड ग्रे और रेवरेंड हस्बेंड
1879 (4 अगस्त)	बदायूं	पंडित रामप्रसाद
(25 अगस्त)	बरेली	रेवरेंड स्काट
1881 (28 जून)	ब्यावर	रेवरेंड शूलब्रेड
1882 (11 सितम्बर)	उदयपुर	मौलवी अब्दुर्रहमान

(स्वामीजी ने पहला शास्त्रार्थ अजमेर में 1866 में ईसाई मिशनरियों के साथ और अंतिम शास्त्रार्थ उदयपुर में 1883 में एक मुसलमान मौलवी के साथ किया था।)

परिशिष्ट-3

स्वामी दयानन्द का वंश-वृक्ष

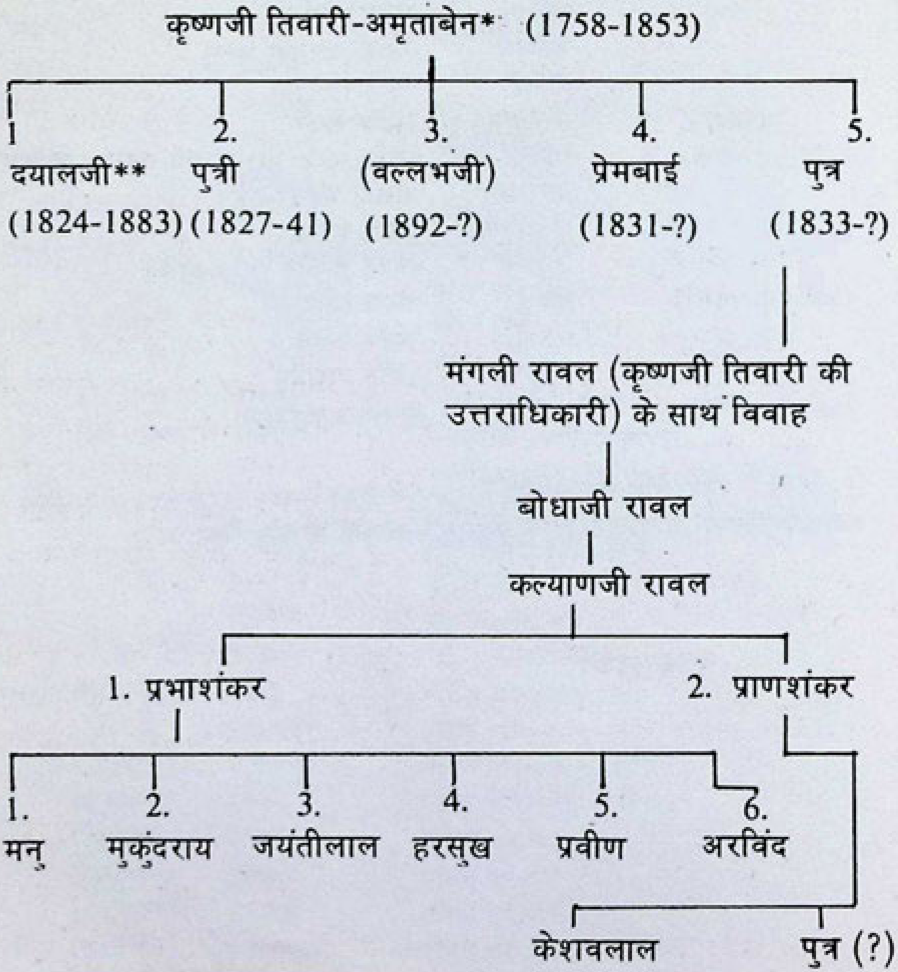

* स्वामी स्वतंत्रानंद के अनुसार यह नाम अमृताबेन न होकर यशोदाबाई था।

** स्वामी दयानन्द।

श्रद्धांजलियां

दयानन्द सरस्वती अत्यंत श्रेष्ठ कोटि के व्यक्ति थे। सिंह प्रवृत्ति का यह महापुरुष वह व्यक्ति है जिसे भारत के बारे में निर्णय व्यक्त करते समय यूरोप वाले भूल जाना चाहेंगे लेकिन जिनका स्मरण उन्हें करना ही होगा क्योंकि उनके अंदर तीन दुर्लभ गुणों—विचारक, कर्मयोगी और अद्भुत नेतृत्व क्षमता का सम्मिश्रण था।

दयानन्द ने भारत के सुशरीर में अपने अंदर की अदम्य ऊर्जा प्रवाहित कर दी थी, अपनी निश्चयात्मकता और अपने सिंह-रक्त का संचार कर दिया था। उनके शब्द मेघ-गर्जन के समान गूंजते थे। दयानन्द को अस्पृश्यता जैसा घृण्य अन्याय कदापि सह्य नहीं था, और 'अछूतों' के अधिकारों के लिए लड़ने वाला उनके समान योद्धा अन्य कोई नहीं हुआ है। उन्हें आर्य समाज में बराबरी का दर्जा देकर सम्मिलित किया गया था। क्योंकि आर्य कोई एक जाति नहीं है।

भारत में राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जन्म और पुनर्जागरण के क्षणों में दयानन्द तत्काल कर्म के प्रबल शक्ति पुंज थे। वह नव निर्माण और राष्ट्रीय संगठन के सबसे ओजस्वी पैगम्बर थे। मैं समझता हूं कि उन्होंने एक सजग प्रहरी की भूमिका निभाई।

— रोमां रोलां

दयानन्द ने अपनी युवावस्था से ही न केवल उस महान वैदिक संस्कृति का अध्ययन किया था जिसके बल पर भारत आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव के चरम शिखर पर पहुंचा था, बल्कि उसे अपने जीवन में स्वयं जिया था।

— सी.एफ. एण्ड्रयूज

मैं स्वामी दयानन्द को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं जो आधुनिक भारत का पथ प्रशस्त करने वाले महापुरुष थे। उन्होंने देश की अवनति के दिनों में उग आने वाले मत-मतांतरों और रीति-रिवाजों रूपी झाड़-झंखाड़ को साफ करके एक सीधा मार्ग बनाया था, जिस पर चल कर हिन्दू जाति ईश्वर की उपासना और मानव की सेवा करने का सरल और विवेक सम्मत जीवन व्यतीत कर सकती थी। सत्य की सुस्पष्ट कल्पना और संकल्प के साहस के साथ उन्होंने आत्मसम्मान की भावना और मानसिक सजगता उत्पन्न करने का अनवरत प्रयत्न किया ताकि हम आधुनिक युग की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के साथ तालमेल बिठा सकें और इसके साथ ही भारत के उस गौरवशाली अतीत के साथ भी सुंदर सम्पर्क बनाए रख सकें, जब हमारे देश ने विचार और कार्य की स्वतंत्रता के बीच एक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करके अपने पूर्ण व्यक्तित्व का परिचय दिया था।

— रवीन्द्रनाथ ठाकुर

स्वामी दयानन्द सरस्वती निश्चय ही उन अत्यत प्रभावशाली महापुरुषों में से एक थे जिन्होंने आधुनिक भारत को गढ़ा है और जो उसके नैतिक पुनरुत्थान और धार्मिक पुनर्जागरण के लिए जिम्मेदार हैं।

— सुभाष चंद्र बोस

स्वामी दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने घोषणा की कि भारत सिर्फ भारतवासियों का है।

— डा. एनी बेसेंट

आर्य समाज निस्संदेह एक शक्तिशाली आध्यात्मिक संधान है जिसमें कट्टरपंथी हिन्दुत्व के सांसारिक दोषों और कुप्रथाओं को सुधारने के आंदोलन के साथ-साथ पंडा-पुरोहितवाद की जगह वैदिक धर्म ग्रंथों के अनुसार जीवन का पुरातनवादी ढंग से सरलीकरण करने का आंदोलन भी शामिल है, और जो एक स्वतंत्र भारतीय बौद्धिक जीवन और विचारधारा के विकास का आग्रही है।

— प्रो. सिडनी वेब

दयानन्द ने अपने पैरों में लिपटे कोबरा सांप को झटक कर अलग कर दिया और एक बार में उसका सिर कुचल दिया... यह सुनिश्चित है कि शंकराचार्य के बाद भारत में उन जैसा संस्कृत का प्रकांड विद्वान, उनसे अधिक गहन तत्व का ज्ञाता, उनसे ज्यादा विलक्षण वक्ता, किसी भी बुराई का उनसे अधिक कठोर निंदक और आलोचक कोई नहीं हुआ।

– मैडम ब्लैवाट्स्की

भारत से एक महानात्मा चली गई है। पंडित दयानन्द सरस्वती नहीं रहे। वह अदम्य, कर्मठ सुधारक, जिसकी ओजस्वी वाणी और भावप्रवण वक्तृता ने पिछले कुछ वर्षों के दौरान हजारों लोगों को आलस्य और उदासीनता की नींद से जगा कर सक्रिय देशभक्त बना दिया था, अब नहीं रहा। आर्यों के पुनरुत्थान के लिए जीवन पर्यन्त किया गया उनका कार्य ही अब हमें याद रखना है। अपने पूर्वजों के गौरवशाली दर्शन के प्रति उनका उत्कट प्रेम, सामाजिक और धार्मिक सुधार के लिए उनका अनथक, अनवरत कार्य हमें सदा याद रहेगा। उनकी मृत्यु से भारत ने अपना एक महान पुत्र खो दिया है। वह सच्चे देशभक्त थे और अपने जीवन के आरम्भिक काल से ही उन्होंने भारतीय बौद्धिक प्रतिभा द्वारा रचे गए साहित्य के अमूल्य खजाने को फिर से ढूंढ़ने के लिए कठिन परिश्रम किया। अपनी मातृभूमि के पुनरुत्थान के लिए उनका उत्साह और उनकी ज्ञान विदग्धता दोनों ही अप्रतिम थे। उन्होंने हिन्दुत्व के अवरुद्ध और सड़ांध भरे सरोवर में मानो बम विस्फोट-सा कर दिया था, और उनकी अनोखी वाक्शक्ति के दायरे में जो भी आत्मा आई उसके अंदर उन्होंने ऋषियों की शिक्षाओं और वैदिक ज्ञान के प्रति प्रेम की ज्वाला प्रज्वलित कर दी। निश्चय ही हिन्दी या संस्कृत में दयानन्द जैसा वक्ता समस्त भारत में कोई दूसरा नहीं था।

– कर्नल एच.एस. आलकाट

हमें दयानन्द के इस महान गुण को स्वीकार करना होगा कि उन्होंने भारत में वेदों के अध्ययन को प्रबल प्रोत्साहन दिया और यह सिद्ध किया कि वेदों में मूर्तिपूजा का समर्थन नहीं किया गया। यदि आर्य समाज के संस्थापक दयानंद ने जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए अपने अनुयायियों को जोरदार संघर्ष करने की प्रेरणा देनें के अलावा और दूसरा कोई काम न किया होता तो भी केवल उस एक काम के बल पर वह आधुनिक भारत के एक महान नेंता के रूप में सम्मान प्राप्त करने के अधिकारी होते।

अनेक वेदांशों की स्वामी दयानन्द द्वारा की गई व्याख्या को कोई ठीक माने या न माने लेकिन ऐसे आदमी की सराहना किए बिना नहीं रहा जा सकता जिसने भारत को एक इकाई के रूप में इस बात का अहसास कराया कि उसे विश्व की संस्कृति में कुछ विशिष्ट योगदान करना है।

– आर.एल. टर्नर

वह एक सच्चे राजनेता हैं जो भविष्य के लिए नियम-निर्माण कर सकते हैं, एक ऐसी शक्ति को कार्यरूप में परिणत कर सकते हैं जो भविष्य की अजन्मी पीढ़ियों के जीवन को, उनके चिंतन को प्रभावित करती रहेगी। जब भारत के विकास की कहानी लिखी जाएगी, उस समय, वह उच्च स्थान उस नंगे फकीर दयानन्द सरस्वती को प्रदान किया जाएगा।

– सर यदुनाथ सरकार

स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्कृत के प्रकांड विद्वान और वेदों के मर्मज्ञ अध्येता थे। एक प्रबुद्ध विद्वान होने के साथ ही वह अत्यंत सौम्य और आध्यात्मिक प्रकृति के मनुष्य थे। उनके शिष्य उन्हें ईश्वर के समान पूजते हैं, और निश्चय ही वह इस सम्मान के अधिकारी थे। वह निराकार ईश्वर के सिवा किसी अन्य रूप में ईश्वर की पूजा को ठीक नहीं समझते थे। उन्होंने यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया कि वेदों में प्राकृतिक शक्तियों की पूजा का विधान नहीं दिया गया है। मैं दिवंगत स्वामी दयानन्द सरस्वती से

भलीभांति परिचित था और मैं उनके प्रति बहुत सम्मान व्यक्त करता था। वह इतने उत्तम और विद्वान व्यक्ति थे कि सभी धर्मों के लोगों को उनका सम्मान करना ही उचित और शोभनीय था। उनकी जोड़ का भारत में दूसरा महान व्यक्ति नहीं है।

— सर सैयद अहमद खां

दयानन्द सरस्वती की हिन्दू धर्म और राष्ट्रोत्थान के लिए की गई सेवाएं इतनी महान हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता।

— एच.एस. रहीमजावा सफावी

सप्रेम - सस्नेह भेंट :
S. C. GUPTA, MUMBAI
आर्य प्रतिनिधि सभा, मुम्बई
Cell Phone : 91-9820587609
Fixed Lines : 022-26149353/24310944
Email : PRGSATISH@YAHOO.COM

आधुनिक भारत के निर्माता

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार